स्पष्ट है। अर्जुन कृष्ण के उपदेश के कारण मुक्त तो हो गया, किन्तु कभी भी कृष्ण से एकाकार नहीं हुआ।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २४ ॥

अच्छेद्यः—न टूटने वाला; **अयम्**—यह आत्मा; **अदाह्यः**—न जलाया जा सकने वाला; **अयम्**—यह आत्मा; **अक्लेद्यः**—अघुलनशील; **अशोष्यः**—न सुखाया जा सकने वाला; **एव**—निश्चय ही; **च**—तथा; **नित्यः**—शाश्वत; **सर्व-गतः**—सर्वव्यापी; **स्थाणुः**—अपरिवर्तनीय, अविकारी; **अचलः**—जड़; **अयम्**—यह आत्मा; **सनातनः**—सदैव एक सा।

यह आत्मा अखंडित तथा अघुलनशील है। इसे न तो जलाया जा सकता है, न ही सुखाया जा सकता है। यह शाश्वत, सर्वव्यापी, अविकारी, स्थिर तथा सदैव एक सा रहने वाला है।

तात्पर्य : अणु-आत्मा के इतने सारे गुण यही सिद्ध करते हैं कि आत्मा पूर्ण आत्मा का अणु-अंश है और बिना किसी परिवर्तन के निरन्तर उसी तरह बना रहता है। इस प्रसंग में अद्वैतवाद को व्यवहृत करना कठिन है क्योंकि अणु-आत्मा कभी भी परम-आत्मा के साथ मिलकर एक नहीं हो सकता। भौतिक कल्मष से मुक्त होकर अणु-आत्मा भगवान् के तेज की किरणों की आध्यात्मिक स्फुलिंग बनकर रहना चाह सकता है, किन्तु बुद्धिमान जीव तो भगवान् की संगति करने के लिए वैकुण्ठलोक में प्रवेश करता है।

सर्वगत शब्द महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसमें कोई संशय नहीं है कि जीव भगवान् की समग्र सृष्टि में फैले हुए हैं। वे जल, थल, वायु, पृथ्वी के भीतर तथा अग्नि के भीतर भी रहते हैं। जो यह मानते हैं कि वे अग्नि में स्वाहा हो जाते हैं वह ठीक नहीं है क्योंकि यहाँ कहा गया है कि आत्मा को अग्नि द्वारा जलाया नहीं जा सकता। अतः इसमें सन्देह नहीं कि सूर्यलोक में भी उपयुक्त प्राणी निवास करते हैं। यदि सूर्यलोक निर्जन हो तो *सर्वगत* शब्द निरर्थक हो जाता है।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥

अव्यक्तः—अदृश्य; **अयम्**—यह आत्मा; **अचिन्त्यः**—अकल्पनीय; **अयम्**—यह आत्मा; **अविकार्यः**—अपरिवर्तित; **अयम्**—यह आत्मा; **उच्यते**—कहलाता है; **तस्मात्**—अतः; **एवम्**—इस प्रकार; **विदित्वा**—अच्छी तरह जानकर; **एनम्**—इस आत्मा के विषयमें; **न**—नहीं; **अनुशोचितुम्**—शोक करने के लिए; **अर्हसि**—योग्य हो।

यह आत्मा अव्यक्त, अकल्पनीय तथा अपरिवर्तनीय कहा जाता है। यह जानकर तुम्हें शरीर के लिए शोक नहीं करना चाहिए।

तात्पर्य : जैसा कि पहले कहा जा चुका है, आत्मा इतना सूक्ष्म है कि इसे सर्वाधिक शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शी यंत्र से भी नहीं देखा जा सकता, अतः यह अदृश्य है। जहाँ तक आत्मा के अस्तित्व का सम्बन्ध है, *श्रुति* के प्रमाण के अतिरिक्त अन्य किसी प्रयोग द्वारा

इसके अस्तित्व को सिद्ध नहीं किया जा सकता। हमें इस सत्य को स्वीकार करना पड़ता है क्योंकि अनुभवगम्य सत्य होते हुए भी आत्मा के अस्तित्व को समझने के लिए कोई अन्य साधन नहीं है। हमें अनेक बातें केवल उच्च प्रमाणों के आधार पर माननी पड़ती हैं। कोई भी अपनी माता के आधार पर अपने पिता के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं कर सकता। पिता के स्वरूप को जानने का साधन या एकमात्र प्रमाण माता है। इसी प्रकार *वेदाध्ययन* के अतिरिक्त आत्मा को समझने का अन्य उपाय नहीं है। दूसरे शब्दों में, आत्मा मानवीय व्यावहारिक ज्ञान द्वारा अकल्पनीय है। आत्मा चेतना है और चेतन है—*वेदों* के इस कथन को हमें स्वीकार करना होगा। आत्मा में शरीर जैसे परिवर्तन नहीं होते। मूलतः अविकारी रहते हुए आत्मा अनन्त परमात्मा की तुलना में अणु-रूप है। परमात्मा अनन्त है और अणु-आत्मा अति सूक्ष्म है। अतः अति सूक्ष्म आत्मा अविकारी होने के कारण अनन्त आत्मा भगवान् के तुल्य नहीं हो सकता। यही भाव *वेदों* में भिन्न-भिन्न प्रकार से आत्मा के स्थायित्व की पुष्टि करने के लिए दुहराया गया है। किसी बात का दुहराना उस तथ्य को बिना किसी त्रुटि के समझने के लिए आवश्यक है।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि॥ २६॥

अथ—यदि, फिर भी; **च**—भी; **एनम्**—इस आत्मा को; **नित्य-जातम्**—उत्पन्न होने वाला; **नित्यम्**—सदैव के लिए; **वा**—अथवा; **मन्यसे**—तुम ऐसा सोचते हो; **मृतम्**—मृत; **तथा अपि**—फिर भी; **त्वम्**—तुम; **महा-बाहो**—हे शूरवीर; **न**—कभी नहीं; **एनम्**—आत्मा के विषय में; **शोचितुम्**—शोक करने के लिए; **अर्हसि**—योग्य हो।

किन्तु यदि तुम यह सोचते हो कि आत्मा (अथवा जीवन का लक्षण) सदा जन्म लेता है तथा सदा मरता है तो भी हे महाबाहु! तुम्हारे शोक करने का कोई कारण नहीं है।

तात्पर्य : सदा से दार्शनिकों का एक ऐसा वर्ग चला आ रहा है जो बौद्धों के ही समान यह नहीं मानता कि शरीर के परे भी आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व है। ऐसा प्रतीत होता है कि जब भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* का उपदेश दिया तो ऐसे दार्शनिक विद्यमान थे और *लोकायतिक* तथा *वैभाषिक* नाम से जाने जाते थे। ऐसे दार्शनिकों का मत है कि जीवन के लक्षण भौतिक संयोग की एक परिपक्वावस्था में ही घटित होते हैं। आधुनिक भौतिक विज्ञानी तथा भौतिकतावादी दार्शनिक भी ऐसा ही सोचते हैं। उनके अनुसार शरीर भौतिक तत्त्वों का संयोग है और एक अवस्था ऐसी आती है जब भौतिक तथा रासायनिक तत्त्वों के संयोग से जीवन के लक्षण विकसित हो उठते हैं। नृतत्त्व विज्ञान इसी दर्शन पर आधारित है। सम्प्रति, अनेक छद्म धर्म—जिनका अमेरिका में प्रचार हो रहा है—इसी दर्शन का पालन करते हैं और साथ ही शून्यवादी अभक्त बौद्धों का अनुसरण करते हैं।

यदि अर्जुन को आत्मा के अस्तित्व में विश्वास नहीं था, जैसा कि *वैभाषिक* दर्शन में होता है तो भी उसके शोक करने का कोई कारण न था। कोई भी मानव थोड़े से

रसायनों की क्षति के लिए शोक नहीं करता तथा अपना कर्तव्यपालन नहीं त्याग देता है। दूसरी ओर, आधुनिक विज्ञान तथा वैज्ञानिक युद्ध में शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए न जाने कितने टन रसायन फूँक देते हैं। *वैभाषिक* दर्शन के अनुसार आत्मा शरीर के क्षय होते ही लुप्त हो जाता है। अतः प्रत्येक दशा में चाहे अर्जुन इस वैदिक मान्यता को स्वीकार करता कि अणु-आत्मा का अस्तित्व है, या कि वह आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता, उसके लिए शोक करने का कोई कारण न था। इस सिद्धान्त के अनुसार चूँकि पदार्थ से प्रत्येक क्षण असंख्य जीव उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते रहते हैं, अतः ऐसी घटनाओं के लिए शोक करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि आत्मा का पुनर्जन्म नहीं होता तो अर्जुन को अपने पितामह तथा गुरु के वध करने के पापफलों से डरने का कोई कारण न था। किन्तु साथ ही कृष्ण ने अर्जुन को व्यंगपूर्वक *महाबाहु* कह कर सम्बोधित किया क्योंकि उसे *वैभाषिक* सिद्धान्त स्वीकार नहीं था जो वैदिक ज्ञान के प्रतिकूल है। *क्षत्रिय* होने के नाते अर्जुन का सम्बन्ध वैदिक संस्कृति से था और वैदिक सिद्धान्तों का पालन करते रहना ही उसके लिए शोभनीय था।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥ २७॥

जातस्य—जन्म लेने वाले की; **हि**—निश्चय ही; **ध्रुवः**—तथ्य है; **मृत्युः**—मृत्यु; **ध्रुवम्**—यह भी तथ्य है; **जन्म**—जन्म; **मृतस्य**—मृत प्राणी का; **च**—भी; **तस्मात्**—अतः; **अपरिहार्ये**—जिससे बचा न जा सके, उसका; **अर्थे**—के विषय में; **न**—नहीं; **त्वम्**—तुम; **शोचितुम्**—शोक करने के लिए; **अर्हसि**—योग्य हो।

जिसने जन्म लिया है उसकी मृत्यु निश्चित है और मृत्यु के पश्चात् पुनर्जन्म भी निश्चित है। अतः अपने अपरिहार्य कर्तव्यपालन में तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए।

तात्पर्य : मनुष्य को अपने कर्मों के अनुसार जन्म ग्रहण करना होता है और एक कर्म-अवधि समाप्त होने पर उसे मरना होता है, जिससे वह दूसरा जन्म ले सके। इस प्रकार मुक्ति प्राप्त किये बिना ही जन्म-मृत्यु का यह चक्र चलता रहता है। जन्म-मरण के इस चक्र से वृथा हत्या, वध तथा युद्ध का समर्थन नहीं होता। किन्तु मानव समाज में शान्ति तथा व्यवस्था बनाये रखने के लिए हिंसा तथा युद्ध अपरिहार्य हैं।

कुरुक्षेत्र का युद्ध भगवान् की इच्छा होने के कारण अपरिहार्य था और सत्य के लिए युद्ध करना *क्षत्रिय* का धर्म है। अतः अपने कर्तव्य का पालन करते हुए वह स्वजनों की मृत्यु से भयभीत या शोकाकुल क्यों था? वह विधि (कानून) को भंग नहीं करना चाहता था क्योंकि ऐसा करने पर उसे उन पापकर्मों के फल भोगने पड़ेंगे जिनसे वह अत्यन्त भयभीत था। अपने कर्तव्य का पालन करते हुए वह स्वजनों की मृत्यु को रोक नहीं सकता था और यदि वह अनुचित कर्तव्य-पथ का चुनाव करे, तो उसे नीचे गिरना होगा।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥ २८॥

अव्यक्त-आदीनि—प्रारम्भ में अप्रकट; **भूतानि**—सारे प्राणी; **व्यक्त**—प्रकट; **मध्यानि**—मध्य में; **भारत**—हे भरतवंशी; **अव्यक्त**—अप्रकट; **निधनानि**—विनाश होने पर; **एव**—इस तरह से; **तत्र**—अतः; **का**—क्या; **परिदेवना**—शोक।

सारे जीव प्रारम्भ में अव्यक्त रहते हैं, मध्य अवस्था में व्यक्त होते हैं और विनष्ट होने पर पुनः अव्यक्त हो जाते हैं। अतः शोक करने की क्या आवश्यकता है?

तात्पर्य : यह स्वीकार करते हुए कि दो प्रकार के दार्शनिक हैं—एक तो वे जो आत्मा के अस्तित्व को मानते हैं, और दूसरे वे जो आत्मा के अस्तित्व को नहीं मानते, कहा जा सकता है कि किसी भी दशा में शोक करने का कोई कारण नहीं है। आत्मा के अस्तित्व को न मानने वालों को वेदान्तवादी नास्तिक कहते हैं। यदि हम तर्क के लिए इस नास्तिकतावादी सिद्धान्त को मान भी लें तो भी शोक करने का कोई कारण नहीं है। आत्मा के पृथक् अस्तित्व से भिन्न सारे भौतिक तत्त्व सृष्टि के पूर्व अदृश्य रहते हैं। इस अदृश्य रहने की सूक्ष्म अवस्था से ही दृश्य अवस्था आती है, जिस प्रकार आकाश से वायु उत्पन्न होती है, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी उत्पन्न होती है। पृथ्वी से अनेक प्रकार के पदार्थ प्रकट होते हैं—यथा एक विशाल गगनचुम्बी महल पृथ्वी से ही प्रकट है। जब इसे ध्वस्त कर दिया जाता है, तो वह अदृश्य हो जाता है, और अन्ततः परमाणु रूप में बना रहता है। शक्ति-संरक्षण का नियम बना रहता है, किन्तु कालक्रम से वस्तुएँ प्रकट तथा अप्रकट होती रहती हैं—अन्तर इतना ही है। अतः प्रकट होने (व्यक्त) या अप्रकट (अव्यक्त) होने पर शोक करने का कोई कारण नहीं है। यहाँ तक कि अप्रकट अवस्था में भी वस्तुएँ समाप्त नहीं होतीं। प्रारम्भिक तथा अन्तिम दोनों अवस्थाओं में ही सारे तत्त्व अप्रकट रहते हैं, केवल मध्य में वे प्रकट होते हैं और इस तरह इससे कोई वास्तविक अन्तर नहीं पड़ता।

यदि हम *भगवद्गीता* के इस वैदिक निष्कर्ष को मानते हैं कि ये भौतिक शरीर कालक्रम में नाशवान हैं (*अन्तवन्त इमे देहाः*) किन्तु आत्मा शाश्वत है (*नित्यस्योक्ताः शरीरिणः*) तो हमें यह सदा स्मरण रखना होगा कि यह शरीर वस्त्र (परिधान) के समान है, अतः वस्त्र परिवर्तन होने पर शोक क्यों? शाश्वत आत्मा की तुलना में भौतिक शरीर का कोई यथार्थ अस्तित्व नहीं होता। यह स्वप्न के समान है। स्वप्न में हम आकाश में उड़ते या राजा की भाँति रथ पर आरूढ़ हो सकते हैं, किन्तु जागने पर देखते हैं कि न तो हम आकाश में हैं, न रथ पर। वैदिक ज्ञान आत्म-साक्षात्कार को भौतिक शरीर के अनस्तित्व के आधार पर प्रोत्साहन देता है। अतः चाहे हम आत्मा के अस्तित्व को मानें या न मानें, शरीर-नाश के लिए शोक करने का कोई कारण नहीं है।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥ २९॥

आश्चर्यवत्—आश्चर्य की तरह; **पश्यति**—देखता है; **कश्चित्**—कोई; **एनम्**—इस आत्मा को; **आश्चर्यवत्**—आश्चर्य की तरह; **वदति**—कहता है; **तथा**—जिस प्रकार; **एव**—निश्चय ही; **च**—भी; **अन्यः**—दूसरा; **आश्चर्यवत्**—आश्चर्य से; **च**—और; **एनम्**—इस आत्मा को; **अन्यः**—दूसरा; **शृणोति**—सुनता है; **श्रुत्वा**—सुनकर; **अपि**—भी; **एनम्**—इस आत्मा को; **वेद**—जानता है; **न**—कभी नहीं; **च**—तथा; **एव**—निश्चय ही; **कश्चित्**—कोई।

कोई आत्मा को आश्चर्य से देखता है, कोई इसे आश्चर्य की तरह बताता है तथा कोई इसे आश्चर्य की तरह सुनता है, किन्तु कोई-कोई इसके विषय में सुनकर भी कुछ नहीं समझ पाते।

तात्पर्य : चूँकि *गीतोपनिषद् उपनिषदों* के सिद्धान्त पर आधारित है, अतः *कठोपनिषद्* में (१.२.७) इस श्लोक का होना कोई आश्चर्यजनक नहीं है—

श्रवणयापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा आश्चर्योऽस्य ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥

विशाल पशु, विशाल वटवृक्ष तथा एक इंच स्थान में लाखों करोड़ों की संख्या में उपस्थित सूक्ष्मकीटाणुओं के भीतर अणु-आत्मा की उपस्थिति निश्चित रूप से आश्चर्यजनक है। अल्पज्ञ तथा दुराचारी व्यक्ति अणु-आत्मा के स्फुलिंग के चमत्कारों को नहीं समझ पाता, भले ही उसे बड़े से बड़ा ज्ञानी, जिसने विश्व के प्रथम प्राणी ब्रह्मा को भी शिक्षा दी हो, क्यों न समझाए। वस्तुओं के स्थूल भौतिक बोध के कारण इस युग के अधिकांश व्यक्ति इसकी कल्पना नहीं कर सकते कि इतना सूक्ष्मकण किस प्रकार इतना विराट तथा इतना लघु बन सकता है। अतः लोग आत्मा को उसकी संरचना या उसके विवरण के आधार पर ही आश्चर्य से देखते हैं। इन्द्रियतृप्ति की बातों में फँस कर लोग भौतिक शक्ति (माया) से इस तरह मोहित होते हैं कि उनके पास आत्मज्ञान को समझने का अवसर ही नहीं रहता यद्यपि यह तथ्य है कि आत्म-ज्ञान के बिना सारे कार्यों का दुष्परिणाम जीवन-संघर्ष में पराजय के रूप में होता है। सम्भवतः उन्हें इसका कोई अनुमान नहीं होता कि मनुष्य को आत्मा के विषय में चिन्तन करना चाहिए और दुखों का हल खोज निकालना चाहिए।

ऐसे थोड़े से लोग, जो आत्मा के विषय में सुनने के इच्छुक हैं, अच्छी संगति पाकर भाषण सुनते हैं, किन्तु कभी-कभी अज्ञानवश वे परमात्मा तथा अणु-आत्मा को एक समझ बैठते हैं। ऐसा व्यक्ति खोज पाना कठिन है जो परमात्मा, अणु-आत्मा, उनके पृथक-पृथक कार्यों तथा सम्बन्धों एवं अन्य विस्तारों को सही ढंग से समझ सके। इससे अधिक कठिन है ऐसा व्यक्ति खोज पाना जिसने आत्मा के ज्ञान से पूरा-पूरा लाभ उठाया हो और जो सभी पक्षों से आत्मा की स्थिति का सही-सही निर्धारण कर सके। किन्तु यदि कोई किसी तरह से आत्मा के इस विषय को समझ लेता है तो उसका जीवन सफल हो जाता है।

इस आत्म-ज्ञान को समझने का सरलतम उपाय यह है कि अन्य मतों से विचलित हुए बिना परम प्रमाण भगवान् कृष्ण द्वारा कथित *भगवद्गीता* के उपदेशों को ग्रहण कर लिया जाय। किन्तु इसके लिए भी इस जन्म में या पिछले जन्मों में प्रचुर तपस्या की

आवश्यकता होती है, तभी कृष्ण को श्रीभगवान् के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। पर कृष्ण को इस रूप में जानना शुद्ध भक्तों की अहैतुकी कृपा से ही होता है, अन्य किसी उपाय से नहीं।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥ ३०॥

देही—भौतिक शरीर का स्वामी; **नित्यम्**—शाश्वत; **अवध्यः**—मारा नहीं जा सकता; **अयम्**—यह आत्मा; **देहे**—शरीर में; **सर्वस्य**—हर एक के; **भारत**—हे भरतवंशी; **तस्मात्**—अतः; **सर्वाणि**—समस्त; **भूतानि**—जीवों (जन्म लेने वालों) को; **न**—कभी नहीं; **त्वम्**—तुम; **शोचितुम्**—शोक करने के लिए; **अर्हसि**—योग्य हो।

हे भरतवंशी! शरीर में रहने वाले (देही)का कभी भी वध नहीं किया जा सकता। अतः तुम्हें किसी भी जीव के लिए शोक करने की आवश्यकता नहीं है।

तात्पर्य : अब भगवान् अविकारी आत्मा विषयक अपना उपदेश समाप्त कर रहे हैं। अमर आत्मा का अनेक प्रकार से वर्णन करते हुए भगवान् कृष्ण ने आत्मा को अमर तथा शरीर को नाशवान सिद्ध किया है। अतः *क्षत्रिय* होने के नाते अर्जुन को इस भय से कि युद्ध में उसके पितामह भीष्म तथा गुरु द्रोण मर जायेंगे अपने कर्तव्य से विमुख नहीं होना चाहिए। कृष्ण को प्रमाण मानकर भौतिक देह से भिन्न आत्मा का पृथक् अस्तित्व स्वीकार करना ही होगा, यह नहीं कि आत्मा जैसी कोई वस्तु नहीं है या कि जीवन के लक्षण रसायनों की अन्तःक्रिया के फलस्वरूप एक विशेष अवस्था में प्रकट होते हैं। यद्यपि आत्मा अमर है, किन्तु इससे हिंसा को प्रोत्साहित नहीं किया जाता। फिर भी युद्ध के समय हिंसा का निषेध नहीं किया जाता क्योंकि तब इसकी आवश्यकता रहती है। ऐसी आवश्यकता को भगवान् की आज्ञा के आधार पर उचित ठहराया जा सकता है, स्वेच्छा से नहीं।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥ ३१॥

स्व-धर्मम्—अपने धर्म को; **अपि**—भी; **च**—निस्सन्देह; **अवेक्ष्य**—विचार करके; **न**—कभी नहीं; **विकम्पितुम्**—संकोच करने के लिए; **अर्हसि**—तुम योग्य हो; **धर्म्यात्**—धर्म के लिए; **हि**—निरसन्देह; **युद्धात्**—युद्ध करने की अपेक्षा; **श्रेयः**—श्रेष्ठ साधन; **अन्यत्**—कोई दूसरा; **क्षत्रियस्य**—क्षत्रिय का; **न**—नहीं; **विद्यते**—है।

क्षत्रिय होने के नाते अपने विशिष्ट धर्म का विचार करते हुए तुम्हें जानना चाहिए कि धर्म के लिए युद्ध करने से बढ़ कर तुम्हारे लिए अन्य कोई कार्य नहीं है। अतः तुम्हें संकोच करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

तात्पर्य : सामाजिक व्यवस्था के चार वर्णों में द्वितीय वर्ण उत्तम शासन के लिए है और *क्षत्रिय* कहलाता है। *क्षत्* का अर्थ है चोट खाया हुआ। जो क्षति से रक्षा करे वह *क्षत्रिय* कहलाता है (*त्रायते*—रक्षा प्रदान करना)। *क्षत्रियों* को वन में आखेट करने का प्रशिक्षण

दिया जाता है। *क्षत्रिय* जंगल में जाकर शेर को ललकारता और उससे आमने-सामने अपनी तलवार से लड़ता था। शेर की मृत्यु होने पर उसकी राजसी ढंग से अन्त्येष्टि की जाती थी। आज भी जयपुर रियासत के *क्षत्रिय* राजा इस प्रथा का पालन करते हैं। *क्षत्रियों* को विशेष रूप से ललकारने तथा मारने की शिक्षा दी जाती है क्योंकि कभी-कभी धार्मिक हिंसा अनिवार्य होती है। इसलिए *क्षत्रियों* को सीधे *संन्यासाश्रम* ग्रहण करने का विधान नहीं है। राजनीति में अहिंसा कूटनीतिक चाल हो सकती है, किन्तु यह कभी भी कारण या सिद्धान्त नहीं रही। धार्मिक संहिताओं में उल्लेख मिलता है—

आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः।
युद्धमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः॥
यज्ञेषु पशवो ब्रह्मन् हन्यन्ते सततं द्विजैः।
संस्कृताः किल मन्त्रैश्च तेऽपि स्वर्गमवाप्नुवन्॥

"युद्ध में विरोधी ईर्ष्यालु राजा से संघर्ष करते हुए मरने वाले राजा या *क्षत्रिय* को मृत्यु के अनन्तर वे ही उच्चलोक प्राप्त होते हैं जिनकी प्राप्ति यज्ञाग्नि में मारे गये पशुओं को होती है।" अतः धर्म के लिए युद्धभूमि में वध करना तथा याज्ञिक अग्नि के लिए पशुओं का वध करना हिंसा कार्य नहीं माना जाता क्योंकि इसमें निहित धर्म के कारण प्रत्येक व्यक्ति को लाभ पहुँचता है और यज्ञ में बलि दिये गये पशु को एक स्वरूप से दूसरे में बिना विकास प्रक्रिया के ही तुरन्त मनुष्य का शरीर प्राप्त हो जाता है। इसी तरह युद्धभूमि में मारे गये *क्षत्रिय* यज्ञ सम्पन्न करने वाले *ब्राह्मणों* को प्राप्त होने वाले स्वर्गलोक में जाते हैं।

स्वधर्म दो प्रकार का होता है। जब तक मनुष्य मुक्त नहीं हो जाता तब तक मुक्ति प्राप्त करने के लिए धर्म के अनुसार शरीर विशेष के कर्तव्य करने होते हैं। जब वह मुक्त हो जाता है तो उसका विशेष कर्तव्य या *स्वधर्म* आध्यात्मिक हो जाता है और देहात्मबुद्धि में नहीं रहता। जब तक देहात्मबुद्धि है तब तक *ब्राह्मणों* तथा *क्षत्रियों* के लिए *स्वधर्म* पालन अनिवार्य होता है। *स्वधर्म* का विधान भगवान् द्वारा होता है, जिसका स्पष्टीकरण चतुर्थ अध्याय में किया जायेगा। शारीरिक स्तर पर *स्वधर्म* को *वर्णाश्रम-धर्म* अथवा आध्यात्मिक बोध का प्रथम सोपान कहते हैं। *वर्णाश्रम*-धर्म अर्थात् प्राप्त शरीर के विशिष्ट गुणों पर आधारित *स्वधर्म* की अवस्था से मानवीय सभ्यता का शुभारम्भ होता है। *वर्णाश्रम*-धर्म के अनुसार किसी कार्य-क्षेत्र में स्वधर्म का निर्वाह करने से जीवन के उच्चतर पद को प्राप्त किया जा सकता है।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥ ३२॥

यदृच्छया—अपने आप; **च**—भी; **उपपन्नम्**—प्राप्त हुए; **स्वर्ग**—स्वर्गलोक का; **द्वारम्**—दरवाजा; **अपावृतम्**—खुला हुआ; **सुखिनः**—अत्यन्त सुखी; **क्षत्रियाः**—राजपरिवार के सदस्य; **पार्थ**—हे पृथापुत्र; **लभन्ते**—प्राप्त करते हैं; **युद्धम्**—युद्ध को; **ईदृशम्**—इस तरह।

हे पार्थ! वे क्षत्रिय सुखी हैं जिन्हें ऐसे युद्ध के अवसर अपने आप प्राप्त होते हैं

जिससे उनके लिए स्वर्गलोक के द्वार खुल जाते हैं।

तात्पर्य : विश्व के परम गुरु भगवान् कृष्ण अर्जुन की इस प्रवृत्ति की भर्त्सना करते हैं जब वह कहता है कि उसे इस युद्ध में कुछ भी तो लाभ नहीं दिख रहा है। इससे नरक में शाश्वत वास करना होगा। अर्जुन द्वारा ऐसे वक्तव्य केवल अज्ञानजन्य थे। वह अपने *स्वधर्म* के आचरण में अहिंसक बनना चाह रहा था, किन्तु एक *क्षत्रिय* के लिए युद्धभूमि में स्थित होकर इस प्रकार अहिंसक बनना मूर्खों का दर्शन है। *पराशर-स्मृति* में व्यासदेव के पिता पराशर ने कहा है—

क्षत्रियो हि प्रजारक्षन् शस्त्रपाणिः प्रदण्डयन्।
निर्जित्य परसैन्यादि क्षितिं धर्मेण पालयेत्॥

"*क्षत्रिय* का धर्म है कि वह सभी क्लेशों से नागरिकों की रक्षा करे। इसीलिए उसे शान्ति तथा व्यवस्था बनाये रखने के लिए हिंसा करनी पड़ती है। अतः उसे शत्रु राजाओं के सैनिकों को जीत कर धर्मपूर्वक संसार पर राज्य करना चाहिए।"

यदि सभी पक्षों पर विचार करें तो अर्जुन को युद्ध से विमुख होने का कोई कारण नहीं था। यदि वह शत्रुओं को जीतता है तो राज्यभोग करेगा और यदि वह युद्धभूमि में मरता है तो स्वर्ग को जायेगा जिसके द्वार उसके लिए खुले हुए हैं। युद्ध करने से उसे दोनों ही तरह लाभ होगा।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥ ३३॥

अथ—अतः; **चेत्**—यदि; **त्वम्**—तुम; **इमम्**—इस; **धर्म्यम्**—धर्म रूपी; **संग्रामम्**—युद्ध को; **न**—नहीं; **करिष्यसि**—करोगे; **ततः**—तब; **स्व-धर्मम्**—अपने धर्म को; **कीर्तिम्**—यश को; **च**—भी; **हित्वा**—खोकर; **पापम्**—पापपूर्ण फल को; **अवाप्स्यसि**—प्राप्त करोगे।

किन्तु यदि तुम युद्ध करने के स्वधर्म को सम्पन्न नहीं करते तो तुम्हें निश्चित रूप से अपने कर्तव्य की उपेक्षा करने का पाप लगेगा और तुम योद्धा के रूप में भी अपना यश खो दोगे।

तात्पर्य : अर्जुन विख्यात योद्धा था जिसने शिव आदि अनेक देवताओं से युद्ध करके यश अर्जित किया था। शिकारी के वेश में शिवजी से युद्ध करके तथा उन्हें हरा कर अर्जुन ने उन्हें प्रसन्न किया था और वर के रूप में *पाशुपतास्त्र* प्राप्त किया था। सभी लोग जानते थे कि वह एक महान योद्धा है। स्वयं द्रोणाचार्य ने उसे आशीष दिया था और एक विशेष अस्त्र प्रदान किया था, जिससे वह अपने गुरु का भी वध कर सकता था। इस प्रकार वह अपने धर्मपिता एवं स्वर्ग के राजा इन्द्र समेत अनेक अधिकारियों से अनेक युद्धों के प्रमाणपत्र प्राप्त कर चुका था, किन्तु यदि वह इस समय युद्ध का परित्याग करता है तो वह न केवल *क्षत्रिय* धर्म की उपेक्षा का दोषी होगा, अपितु उसके यश की भी हानि होगी और वह नरक जाने के लिए अपना मार्ग तैयार कर लेगा। दूसरे शब्दों में, वह युद्ध करने से नहीं, अपितु युद्ध से पलायन करने के कारण नरक का भागी होगा।

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते॥ ३४॥

अकीर्तिम्—अपयश; **च**—भी; **अपि**—इसके अतिरिक्त; **भूतानि**—सभी लोग; **कथयिष्यन्ति**—कहेंगे; **ते**—तुम्हारे; **अव्ययाम्**—सदा के लिए; **सम्भावितस्य**— सम्मानित व्यक्ति के लिए; **च**—भी; **अकीर्तिः**—अपयश, अपकीर्ति; **मरणात्**—मृत्यु से भी; **अतिरिच्यते**—अधिक होती है।

लोग सदैव तुम्हारे अपयश का वर्णन करेंगे और सम्मानित व्यक्ति के लिए अपयश तो मृत्यु से भी बढ़कर है।

तात्पर्य : अब अर्जुन के मित्र तथा गुरु के रूप में भगवान् कृष्ण अर्जुन को युद्ध से विमुख न होने का अन्तिम निर्णय देते हैं। वे कहते हैं, "अर्जुन! यदि तुम युद्ध प्रारम्भ होने के पूर्व ही यूद्धभूमि छोड़ देते हो तो लोग तुम्हें कायर कहेंगे। और यदि तुम सोचते हो कि लोग गाली देते रहें, किन्तु तुम युद्धभूमि से भागकर अपनी जान बचा लोगे तो मेरी सलाह है कि तुम्हें युद्ध में मर जाना ही श्रेयस्कर होगा। तुम जैसे सम्माननीय व्यक्ति के लिए अपकीर्ति मृत्यु से भी बुरी है। अतः तुम्हें प्राणभय से भागना नहीं चाहिए, युद्ध में मर जाना ही श्रेयस्कर होगा। इससे तुम मेरी मित्रता का दुरुपयोग करने तथा समाज में अपनी प्रतिष्ठा खोने के अपयश से बच जाओगे।"

अतः अर्जुन के लिए भगवान् का अन्तिम निर्णय था कि वह संग्राम से पलायन न करे अपितु युद्ध में मरे।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्॥ ३५॥

भयात्—भय से; **रणात्**—युद्धभूमि से; **उपरतम्**—विमुख; **मंस्यन्ते**—मानेंगे; **त्वाम्**—तुमको; **महारथाः**—बड़े-बड़े योद्धा; **येषाम्**—जिनके लिए; **च**—भी; **त्वम्**—तुम; **बहु-मतः**—अत्यन्त सम्मानित; **भूत्वा**—हो कर; **यास्यसि**—जाओगे; **लाघवम्**—तुच्छता को।

जिन-जिन महान योद्धाओं ने तुम्हारे नाम तथा यश को सम्मान दिया है वे सोचेंगे कि तुमने डर के मारे युद्धभूमि छोड़ दी है और इस तरह वे तुम्हें तुच्छ मानेंगे।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण अर्जुन को अपना निर्णय सुना रहे हैं, "तुम यह मत सोचो कि दुर्योधन, कर्ण तथा अन्य समकालीन महारथी यह सोचेंगे कि तुमने अपने भाइयों तथा पितामह पर दया करके युद्धभूमि छोड़ी है। वे तो यही सोचेंगे कि तुमने अपने प्राणों के भय से युद्धभूमि छोड़ी है। इस प्रकार उनकी दृष्टि में तुम्हारे प्रति जो सम्मान है वह धूल में मिल जायेगा।"

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥ ३६॥

अवाच्य—कटु; **वादान्**—मिथ्या शब्द; **च**—भी; **बहून्**—अनेक; **वदिष्यन्ति**—कहेंगे; **तव**—तुम्हारे;

अहिताः–शत्रु; **निन्दन्तः**–निन्दा करते हुए; **तव**–तुम्हारी; **सामर्थ्यम्**–सामर्थ्य को; **ततः**–उसकी अपेक्षा; **दुःख-तरम्**–अधिक दुखदायी; **नु**–निस्सन्देह; **किम्**–और क्या है?

तुम्हारे शत्रु अनेक प्रकार के कटु शब्दों से तुम्हारा वर्णन करेंगे और तुम्हारी सामर्थ्य का उपहास करेंगे। तुम्हारे लिए इससे दुखदायी और क्या हो सकता है?

तात्पर्य : प्रारम्भ में ही भगवान् कृष्ण को अर्जुन के अयाचित दयाभाव पर आश्चर्य हुआ था और उन्होंने इस दयाभाव को अनार्योचित बताया था। अब उन्होंने विस्तार से अर्जुन के तथाकथित दयाभाव के विरुद्ध कहे गये अपने वचनों को सिद्ध कर दिया है।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥ ३७॥

हतः–मारा जा कर; **वा**–या तो; **प्राप्स्यसि**–प्राप्त करोगे; **स्वर्गम्**–स्वर्गलोक को; **जित्वा**–विजयी होकर; **वा**–अथवा; **भोक्ष्यसे**–भोगोगे; **महीम्**–पृथ्वी को; **तस्मात्**–अतः; **उत्तिष्ठ**–उठो; **कौन्तेय**–हे कुन्तीपुत्र; **युद्धाय**–लड़ने के लिए; **कृत**–दृढ़; **निश्चयः**–संकल्प से।

हे कुन्तीपुत्र! तुम यदि युद्ध में मारे जाओगे तो स्वर्ग प्राप्त करोगे या यदि तुम जीत जाओगे तो पृथ्वी के साम्राज्य का भोग करोगे। अतः दृढ़ संकल्प करके खड़े होओ और युद्ध करो।

तात्पर्य : यद्यपि अर्जुन के पक्ष में विजय निश्चित न थी फिर भी उसे युद्ध करना था, क्योंकि यदि वह युद्ध में मारा भी गया तो वह स्वर्गलोक को जायेगा।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ ३८॥

सुख–सुख; **दुःखे**–तथा दुख में; **समे**–समभाव से; **कृत्वा**–करके; **लाभ-अलाभौ**–लाभ तथा हानि दोनों; **जय-अजयौ**–विजय तथा पराजय दोनों; **ततः**–तत्पश्चात्; **युद्धाय**–युद्ध करने के लिए; **युज्यस्व**–लगो (लड़ो); **न**–कभी नहीं; **एवम्**–इस तरह; **पापम्**–पाप; **अवाप्स्यसि**–प्राप्त करोगे।

तुम सुख या दुख, हानि या लाभ, विजय या पराजय का विचार किये बिना युद्ध के लिए युद्ध करो। ऐसा करने पर तुम्हें कोई पाप नहीं लगेगा।

तात्पर्य : अब भगवान् कृष्ण प्रत्यक्ष रूप से कहते हैं कि अर्जुन को युद्ध के लिए युद्ध करना चाहिए क्योंकि यह उनकी इच्छा है। कृष्णभावनामृत के कार्यों में सुख या दुख, हानि या लाभ, जय या पराजय को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता। दिव्य चेतना तो यही होगी कि हर कार्य कृष्ण के निमित्त किया जाय, अतः भौतिक कार्यों का कोई बन्धन (फल) नहीं होता। जो कोई सतोगुण या रजोगुण के अधीन होकर अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए कर्म करता है उसे अच्छे या बुरे फल प्राप्त होते हैं किन्तु जो कृष्णभावनामृत के कार्यों में अपने आपको समर्पित कर देता है वह सामान्य कर्म करने वाले के समान किसी का कृतज्ञ या ऋणी नहीं होता। *भागवत* में (११.५.४१) कहा गया है–

देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्।

"जिसने अन्य समस्त कार्यों को त्याग कर मुकुन्द श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण कर ली है वह न तो किसी का ऋणी है और न किसी का कृतज्ञ—चाहे वे देवता, साधु, सामान्यजन, अथवा परिजन, मानवजाति या उसके पितर ही क्यों न हों।" इस श्लोक में कृष्ण ने अर्जुन को अप्रत्यक्ष रूप से इसी का संकेत किया है। इसकी व्याख्या अगले श्लोकों में और भी स्पष्टता से की जायेगी।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥ ३९॥

एषा—यह सब; ते—तेरे लिए; **अभिहिता**—वर्णन किया गया; **सांख्ये**—वैश्लेषिक अध्ययन द्वारा; **बुद्धिः**—बुद्धि; **योगे**—निष्काम कर्म में; **तु**—लेकिन; **इमाम्**—इसे; **शृणु**—सुनो; **बुद्ध्या**—बुद्धि से; **युक्तः**—साथ-साथ, सहित; **यया**—जिससे; **पार्थ**—हे पृथापुत्र; **कर्म-बन्धम्**—कर्म के बन्धन से; **प्रहास्यसि**—मुक्त हो जाओगे।

यहाँ मैंने वैश्लेषिक अध्ययन (सांख्य) द्वारा इस ज्ञान का वर्णन किया है। अब निष्काम भाव से कर्म करना बता रहा हूँ, उसे सुनो। हे पृथापुत्र! तुम यदि ऐसे ज्ञान से कर्म करोगे तो तुम कर्मों के बन्धन से अपने को मुक्त कर सकते हो।

तात्पर्य : वैदिक कोश *निरुक्ति* के अनुसार *सांख्य* का अर्थ है—विस्तार से वस्तुओं का वर्णन करने वाला तथा *सांख्य* उस दर्शन के लिए प्रयुक्त मिलता है जो आत्मा की वास्तविक प्रकृति का वर्णन करता है। और *योग* का अर्थ है—इन्द्रियों का निग्रह। अर्जुन का युद्ध न करने का प्रस्ताव इन्द्रियतृप्ति पर आधारित था। वह अपने प्रधान कर्तव्य को भुलाकर युद्ध से दूर रहना चाहता था क्योंकि उसने यह सोचा कि धृतराष्ट्र के पुत्रों अर्थात् अपने बन्धु-बान्धवों को परास्त करके राज्यभोग करने की अपेक्षा अपने सम्बन्धियों तथा स्वजनों को न मारकर वह अधिक सुखी रहेगा। दोनों ही प्रकार से मूल सिद्धान्त तो इन्द्रियतृप्ति था। उन्हें जीतने से प्राप्त होने वाला सुख तथा स्वजनों को जीवित देखने का सुख ये दोनों इन्द्रियतृप्ति के धरातल पर एक हैं, क्योंकि इससे बुद्धि तथा कर्तव्य दोनों का अन्त हो जाता है। अतः कृष्ण ने अर्जुन को बताना चाहा कि वह अपने पितामह के शरीर का वध करके उनके आत्मा को नहीं मारेगा। उन्होंने यह बताया कि उनके सहित सारे जीव शाश्वत प्राणी हैं, वे भूतकाल में प्राणी थे, वर्तमान में भी प्राणी रूप में हैं और भविष्य में भी प्राणी बने रहेंगे क्योंकि हम सब शाश्वत आत्मा हैं। हम विभिन्न प्रकार से केवल अपना शारीरिक परिधान (वस्त्र) बदलते रहते हैं और इस भौतिक वस्त्र के बन्धन से मुक्ति के बाद भी हमारी पृथक् सत्ता बनी रहती है। भगवान् कृष्ण द्वारा आत्मा तथा शरीर का अत्यन्त विशद् वैश्लेषिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है और *निरुक्ति कोश* की शब्दावली में इस विशद् अध्ययन को यहाँ *सांख्य* कहा गया है। इस *सांख्य* का नास्तिक-कपिल के *सांख्य-दर्शन* से कोई सरोकार नहीं है। इस नास्तिक-कपिल के *सांख्य दर्शन* से बहुत पहले भगवान् कृष्ण के अवतार भगवान् कपिल

ने अपनी माता देवहूति के समक्ष *श्रीमद्भागवत* में वास्तविक *सांख्य*-दर्शन पर प्रवचन किया था। उन्होंने स्पष्ट बताया है कि *पुरुष* या परमेश्वर क्रियाशील हैं और वे *प्रकृति* पर दृष्टिपात करके सृष्टि की उत्पत्ति करते हैं। इसको वेदों ने तथा *गीता* ने स्वीकार किया है। वेदों में वर्णन मिलता है कि भगवान् ने प्रकृति पर दृष्टिपात किया और उसमें आणविक जीवात्माएँ प्रविष्ट कर दीं। ये सारे जीव भौतिक-जगत् में इन्द्रियतृप्ति के लिए कर्म करते रहते हैं और माया के वशीभूत होकर अपने को भोक्ता मानते रहते हैं। इस मानसिकता की चरम सीमा भगवान् के साथ सायुज्य प्राप्त करना है। यह *माया* अथवा इन्द्रियतृप्तिजन्य मोह का अन्तिम पाश है और अनेकानेक जन्मों तक इस तरह इन्द्रियतृप्ति करते हुए कोई महात्मा भगवान् कृष्ण यानी वासुदेव की शरण में जाता है जिससे परम सत्य की खोज पूरी होती है।

अर्जुन ने कृष्ण की शरण ग्रहण करके पहले ही उन्हें गुरु रूप में स्वीकार कर लिया है—*शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।* फलस्वरूप कृष्ण अब उसे *बुद्धियोग* या *कर्मयोग* की कार्यविधि बताएँगे जो कृष्ण की इन्द्रियतृप्ति के लिए किया गया भक्तियोग है। यह *बुद्धियोग* अध्याय दस के दसवें श्लोक में वर्णित है जिसमें इसे उन भगवान् के साथ प्रत्यक्ष सम्पर्क बताया गया है जो सबके हृदय में परमात्मा रूप में विद्यमान हैं, किन्तु ऐसा सम्पर्क भक्ति के बिना सम्भव नहीं है। अतः जो भगवान् की भक्ति या दिव्य प्रेमाभक्ति में या कृष्णभावनामृत में स्थित होता है, वही भगवान् की विशिष्ट कृपा से *बुद्धियोग* की यह अवस्था प्राप्त कर पाता है। अतः भगवान् कहते हैं कि जो लोग दिव्य प्रेमवश भक्ति में निरन्तर लगे रहते हैं उन्हें ही वे भक्ति का विशुद्ध ज्ञान प्रदान करते हैं। इस प्रकार भक्त सरलता से उनके चिदानन्दमय धाम में पहुँच सकते हैं।

इस प्रकार इस श्लोक में वर्णित *बुद्धियोग* भगवान् कृष्ण की भक्ति है और यहाँ पर उल्लिखित *सांख्य* शब्द का नास्तिक-कपिल द्वारा प्रतिपादित अनीश्वरवादी *सांख्य-योग* से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। अतः किसी को यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि यहाँ पर उल्लिखित *सांख्य-योग* का अनीश्वरवादी *सांख्य* से किसी प्रकार का सम्बन्ध है। न ही उस समय उसके दर्शन का कोई प्रभाव था, और न कृष्ण ने ऐसी ईश्वरविहीन दार्शनिक कल्पना का उल्लेख करने की चिन्ता की। वास्तविक *सांख्य*-दर्शन का वर्णन भगवान् कपिल द्वारा *श्रीमद्भागवत* में हुआ है, किन्तु वर्तमान प्रकरणों में उस *सांख्य* से भी कोई सरोकार नहीं है। यहाँ *सांख्य* का अर्थ है शरीर तथा आत्मा का वैश्लेषिक अध्ययन। भगवान् कृष्ण ने आत्मा का वैश्लेषिक वर्णन अर्जुन को *बुद्धियोग* या *कर्मयोग* तक लाने के लिए किया। अतः भगवान् कृष्ण का *सांख्य* तथा *भागवत* में भगवान् कपिल द्वारा वर्णित *सांख्य* एक ही हैं। ये दोनों *भक्तियोग* हैं। अतः भगवान् कृष्ण ने कहा है कि केवल अल्पज्ञ ही *सांख्य-योग* तथा *भक्तियोग* में भेदभाव मानते हैं (*सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः*)।

निस्सन्देह अनीश्वरवादी *सांख्य-योग* का *भक्तियोग* से कोई सम्बन्ध नहीं है फिर भी बुद्धिहीन व्यक्तियों का दावा है कि *भगवद्गीता* में अनीश्वरवादी *सांख्य* का ही वर्णन हुआ है।

अतः मनुष्य को यह जान लेना चाहिए कि बुद्धियोग का अर्थ कृष्णभावनामृत में,

पूर्ण आनन्द तथा भक्ति के ज्ञान में कर्म करना है। जो व्यक्ति भगवान् की तुष्टि के लिए कर्म करता है, चाहे वह कर्म कितना भी कठिन क्यों न हो, वह *बुद्धियोग* के सिद्धान्त के अनुसार कार्य करता है और दिव्य आनन्द का अनुभव करता है। ऐसी दिव्य व्यस्तता के कारण उसे भगवत्कृपा से स्वतः सम्पूर्ण दिव्य ज्ञान प्राप्त हो जाता है और ज्ञान प्राप्त करने के लिए अतिरिक्त श्रम किये बिना ही उसकी पूर्ण मुक्ति हो जाती है। कृष्णभावनाभावित कर्म तथा फल प्राप्ति की इच्छा से किये गये कर्म में, विशेषतया पारिवारिक या भौतिक सुख प्राप्त करने की इन्द्रियतृप्ति के लिए किये गये कर्म में, प्रचुर अन्तर होता है। अतः *बुद्धियोग* हमारे द्वारा सम्पन्न कार्य का दिव्य गुण है।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥ ४०॥

न—नहीं; **इह**—इस योग में; **अभिक्रम**—प्रयत्न करने में; **नाशः**—हानि; **अस्ति**—है; **प्रत्यवायः**—ह्रास; **न**—कभी नहीं; **विद्यते**—है; **सु-अल्पम्**—थोड़ा; **अपि**—यद्यपि; **अस्य**—इस; **धर्मस्य**—धर्म का; **त्रायते**—मुक्त करता है; **महतः**—महान; **भयात्**—भय से।

इस प्रयास में न तो हानि होती है न ही ह्रास अपितु इस पथ पर की गई अल्प प्रगति भी महान भय से रक्षा कर सकती है।

तात्पर्य : कर्म का सर्वोच्च दिव्य गुण है, कृष्णभावनामृत में कर्म या इन्द्रियतृप्ति की आशा न करके कृष्ण के हित में कर्म करना। ऐसे कर्म का लघु आरम्भ होने पर भी कोई बाधा नहीं आती है, न कभी इस आरम्भ का विनाश होता है। भौतिक स्तर पर प्रारम्भ किये जाने वाले किसी भी कार्य को पूरा करना होता है अन्यथा सारा प्रयास निष्फल हो जाता है। किन्तु कृष्णभावनामृत में प्रारम्भ किया जाने वाला कोई भी कार्य अधूरा रह कर भी स्थायी प्रभाव डालता है। अतः ऐसे कर्म करने वाले को कोई हानि नहीं होती, चाहे यह कर्म अधूरा ही क्यों न रह जाय। यदि कृष्णभावनामृत का एक प्रतिशत भी कार्य पूरा हुआ हो तो उसका स्थायी फल होता है, अतः अगली बार दो प्रतिशत से शुभारम्भ होगा, किन्तु भौतिक कर्म में जब तक शत प्रतिशत सफलता प्राप्त न हो तब तक कोई लाभ नहीं होता। अजामिल ने कृष्णभावनामृत में अपने कर्तव्य का कुछ ही प्रतिशत पूरा किया था, किन्तु भगवान् की कृपा से उसे शत प्रतिशत लाभ मिला। इस सम्बन्ध में *श्रीमद्भागवत* में (१.५.१७) एक अत्यन्त सुन्दर श्लोक आया है—

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।
यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः॥

"यदि कोई अपना धर्म छोड़कर कृष्णभावनामृत में काम करता है और फिर काम पूरा न होने के कारण नीचे गिर जाता है तो इसमें उसको क्या हानि? और यदि कोई अपने भौतिक कार्यों को पूरा करता है तो इससे उसको क्या लाभ होगा? अथवा जैसा कि ईसाई कहते हैं "यदि कोई अपनी शाश्वत आत्मा को खोकर सम्पूर्ण जगत् को पा ले तो मनुष्य को इससे क्या लाभ होगा?"

भौतिक कार्य तथा उनके फल शरीर के साथ ही समाप्त हो जाते हैं, किन्तु

कृष्णभावनामृत में किया गया कार्य मनुष्य को इस शरीर के विनष्ट होने पर भी पुनः कृष्णभावनामृत तक ले जाता है। कम से कम इतना तो निश्चित है कि अगले जन्म में उसे सुसंस्कृत *ब्राह्मण* परिवार में या धनीमानी कुल में मनुष्य का शरीर प्राप्त हो सकेगा जिससे उसे भविष्य में ऊपर उठने का अवसर प्राप्त हो सकेगा। कृष्णभावनामृत में सम्पन्न कार्य का यही अनुपम गुण है।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥ ४१॥

व्यवसाय-आत्मिका—कृष्णभावनामृत में स्थिर; **बुद्धिः**—बुद्धि; **एका**—एकमात्र; **इह**—इस संसार में; **कुरु-नन्दन**—हे कुरुओं के प्रिय पुत्र; **बहु-शाखाः**—अनेक शाखाओं में विभक्त; **हि**—निस्सन्देह; **अनन्ताः**—असीम; **च**—भी; **बुद्धयः**—बुद्धि; **अव्यवसायिनाम्**—जो कृष्णभावनामृत में नहीं हैं उनकी।

जो इस मार्ग पर (चलते) हैं वे प्रयोजन में दृढ़ रहते हैं और उनका लक्ष्य भी एक होता है। हे कुरुनन्दन! जो दृढ़प्रतिज्ञ नहीं हैं उनकी बुद्धि अनेक शाखाओं में विभक्त रहती है।

तात्पर्य : यह दृढ़ श्रद्धा कि कृष्णभावनामृत द्वारा मनुष्य जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त कर सकेगा, *व्यवसायात्मिका* बुद्धि कहलाती है। *चैतन्य-चरितामृत* में (मध्य २२.६२) कहा गया है—

'श्रद्धा'-शब्दे—विश्वास कहे सुदृढ निश्चय।
कृष्णे भक्ति कैले सर्वकर्म कृत हय॥

श्रद्धा का अर्थ है किसी अलौकिक वस्तु में अटूट विश्वास। जब कोई कृष्णभावनामृत के कार्यों में लगा होता है तो उसे परिवार, मानवता या राष्ट्रीयता से बँध कर कार्य करने की आवश्यकता नहीं होती। पूर्व में किये गये शुभ-अशुभ कर्मों के फल ही उसे सकाम कर्मों में लगाते हैं। जब कोई कृष्णभावनामृत में संलग्न हो तो उसे अपने कार्यों के शुभ-फल के लिए प्रयत्नशील नहीं रहना चाहिए। जब कोई कृष्णभावनामृत में लीन होता है तो उसके सारे कार्य आध्यात्मिक धरातल पर होते हैं क्योंकि उनमें अच्छे तथा बुरे का द्वैत नहीं रह जाता। कृष्णभावनामृत की सर्वोच्च सिद्धि देहात्मबुद्धि का त्याग है। कृष्णभावनामृत की प्रगति के साथ क्रमशः यह अवस्था स्वतः प्राप्त हो जाती है।

कृष्णभावनाभावित व्यक्ति का दृढ़निश्चय ज्ञान पर आधारित है। *वासुदेवः सर्वम् इति स महात्मा सुदुर्लभः*— कृष्णभावनाभावित व्यक्ति अत्यन्त दुर्लभ जीव है जो भलीभाँति जानता है कि वासुदेव या कृष्ण समस्त प्रकट कारणों के मूल कारण हैं। जिस प्रकार वृक्ष की जड़ सींचने पर स्वतः ही पत्तियों तथा टहनियों में जल पहुँच जाता है उसी तरह कृष्णाभावनाभावित होने पर मनुष्य प्रत्येक प्राणी की अर्थात् अपनी, परिवार की, समाज की, मानवता की सर्वोच्च सेवा कर सकता है। यदि मनुष्य के कर्मों से कृष्ण प्रसन्न हो जाएँ तो प्रत्येक व्यक्ति सन्तुष्ट होगा।

किन्तु कृष्णभावनामृत में सेवा गुरु के समर्थ निर्देशन में ही ठीक से हो पाती है क्योंकि गुरु कृष्ण का प्रामाणिक प्रतिनिधि होता है जो शिष्य के स्वभाव से परिचित होता

है और उसे कृष्णभावनामृत की दिशा में कार्य करने के लिए मार्ग दिखा सकता है। अतः कृष्णभावनामृत में दक्ष होने के लिए मनुष्य को दृढ़ता से कर्म करना होगा और कृष्ण के प्रतिनिधि की आज्ञा का पालन करना होगा। उसे गुरु के उपदेशों को जीवन का लक्ष्य मान लेना होगा। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने गुरु की प्रसिद्ध प्रार्थना में उपदेश दिया है—

यस्य प्रसादाद् भगवत्प्रसादो यस्याप्रसादान्न गतिः कुतोऽपि।
ध्यायन्स्तुवंस्तस्य यशस्त्रिसन्ध्यं वन्दे गुरोः श्रीचरणारविन्दम्॥

"गुरु की तुष्टि से भगवान् भी प्रसन्न होते हैं। गुरु को प्रसन्न किये बिना कृष्णभावनामृत के स्तर तक पहुँच पाने की कोई सम्भावना नहीं रहती। अतः मुझे उनका चिन्तन करना चाहिए और दिन में तीन बार उनकी कृपा की याचना करनी चाहिए और अपने गुरु को सादर नमस्कार करना चाहिए।"

किन्तु यह सम्पूर्ण पद्धति देहात्मबुद्धि से परे सैद्धान्तिक रूप में नहीं वरन् व्यावहारिक रूप में पूर्ण आत्म-ज्ञान पर निर्भर करती है, जब सकाम कर्मों से इन्द्रियतृप्ति की कोई सम्भावना नहीं रहती। जिसका मन दृढ़ नहीं है वही विभिन्न सकाम कर्मों की ओर आकर्षित होता है।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥ ४२॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥ ४३॥

याम् इमाम्—ये सब; **पुष्पिताम्**—दिखावटी; **वाचम्**—शब्द; **प्रवदन्ति**—कहते हैं; **अविपश्चितः**—अल्पज्ञ व्यक्ति; **वेद-वाद-रताः**—वेदों के अनुयायी; **पार्थ**—हे पार्थ; **न**—कभी नहीं; **अन्यत्**—अन्य कुछ; **अस्ति**—है; **इति**—इस प्रकार; **वादिनः**—बोलनेवाले; **काम-आत्मानः**—इन्द्रियतृप्ति के इच्छुक; **स्वर्ग-पराः**—स्वर्ग प्राप्ति के इच्छुक; **जन्म-कर्म-फल-प्रदाम्**—उत्तम जन्म तथा अन्य सकाम कर्मफल प्रदान करने वाला; **क्रिया-विशेष**—भड़कीले उत्सव; **बहुलाम्**—विविध; **भोग**—इन्द्रियतृप्ति; **ऐश्वर्य**—तथा ऐश्वर्य; **गतिम्**—प्रगति; **प्रति**—की ओर।

अल्पज्ञानी मनुष्य वेदों के उन अलंकारिक शब्दों के प्रति अत्यधिक आसक्त रहते हैं, जो स्वर्ग की प्राप्ति, अच्छे जन्म, शक्ति इत्यादि के लिए विविध सकाम कर्म करने की संस्तुति करते हैं। इन्द्रियतृप्ति तथा ऐश्वर्यमय जीवन की अभिलाषा के कारण वे कहते हैं कि इससे बढ़कर और कुछ नहीं है।

तात्पर्य : साधारणतः सब लोग अत्यन्त बुद्धिमान् नहीं होते और वे अज्ञान के कारण वेदों के कर्मकाण्ड भाग में बताये गये सकाम कर्मों के प्रति अत्यधिक आसक्त रहते हैं। वे स्वर्ग में जीवन का आनन्द उठाने के लिए इन्द्रियतृप्ति कराने वाले प्रस्तावों से अधिक और कुछ नहीं चाहते जहाँ मदिरा तथा तरुणियाँ उपलब्ध हैं और भौतिक ऐश्वर्य सर्वसामान्य है। *वेदों* में स्वर्गलोक पहुँचने के लिए अनेक यज्ञों की संस्तुति है जिनमें *ज्योतिष्टोम* यज्ञ प्रमुख है। वास्तव में वेदों में कहा गया है कि जो स्वर्ग जाना चाहता है

उसे ये यज्ञ सम्पन्न करने चाहिए और अल्पज्ञानी पुरुष सोचते हैं कि वैदिक ज्ञान का सारा अभिप्राय इतना ही है। ऐसे लोगों के लिए कृष्णभावनामृत के दृढ़ कर्म में स्थित हो पाना अत्यन्त कठिन है। जिस प्रकार मूर्ख लोग विषैले वृक्षों के फूलों के प्रति बिना यह जाने कि इस आकर्षण का फल क्या होगा आसक्त रहते हैं उसी प्रकार अज्ञानी व्यक्ति स्वर्गिक ऐश्वर्य तथा तज्जनित इन्द्रियभोग के प्रति आकृष्ट रहते हैं।

वेदों के *कर्मकाण्ड* भाग में कहा गया है—*अपाम सोममृता अभूम तथा अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति*। दूसरे शब्दों में, जो लोग चातुर्मास तप करते हैं वे अमर तथा सदा सुखी रहने के लिए *सोम-रस* पीने के अधिकारी हो जाते हैं। यहाँ तक कि इस पृथ्वी में भी कुछ लोग *सोम-रस* के लिए अत्यन्त इच्छुक रहते हैं जिससे वे बलवान बनें और इन्द्रियतृप्ति का सुख पाने में समर्थ हों। ऐसे लोगों को भवबन्धन से मुक्ति में कोई श्रद्धा नहीं होती और वे वैदिक यज्ञों की तड़क-भड़क में विशेष आसक्त रहते हैं। वे सामान्यतया विषयी होते हैं और जीवन में स्वर्गिक आनन्द के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहते। कहा जाता है कि स्वर्ग में नन्दन-कानन नामक अनेक उद्यान हैं जिनमें दैवी सुन्दरी स्त्रियों का संग तथा प्रचुर मात्रा में सोम-रस उपलब्ध रहता है। ऐसा शारीरिक सुख निस्सन्देह विषयी है, अतः ये लोग वे हैं जो भौतिक जगत् के स्वामी बन कर ऐसे भौतिक अस्थायी सुख के प्रति आसक्त हैं।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां　　तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥ ४४॥

भोग—भौतिक भोग; **ऐश्वर्य**—तथा ऐश्वर्य के प्रति; **प्रसक्तानाम्**—आसक्तों के लिए; **तया**—ऐसी वस्तुओं से; **अपहृत-चेतसाम्**—मोहग्रसित चित्त वाले; **व्यवसाय-आत्मिकाः**—दृढ़ निश्चय वाली; **बुद्धिः**—भगवान् की भक्ति; **समाधौ**—नियन्त्रित मन में; **न**—कभी नहीं; **विधीयते**—घटित होती है।

जो लोग इन्द्रियभोग तथा भौतिक ऐश्वर्य के प्रति अत्यधिक आसक्त होने से ऐसी वस्तुओं से मोहग्रस्त हो जाते हैं, उनके मनों में भगवान् के प्रति भक्ति का दृढ़ निश्चय नहीं होता।

तात्पर्य : *समाधि* का अर्थ है "स्थिर मन।" वैदिक शब्दकोश *निरुक्ति* के अनुसार—*सम्यग् आधीयतेऽस्मिन्नात्मतत्त्वयाथात्म्यम्*— जब मन आत्मा को समझने में स्थिर रहता है तो उसे समाधि कहते हैं। जो लोग इन्द्रियभोग में रुचि रखते हैं अथवा जो ऐसी क्षणिक वस्तुओं से मोहग्रस्त हैं उनके लिए *समाधि* कभी भी सम्भव नहीं है। माया के चक्कर में पड़कर वे न्यूनाधिक पतन को प्राप्त होते हैं।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥ ४५॥

त्रै-गुण्य—प्राकृतिक तीनों गुणों से सम्बन्धित; **विषयाः**—विषयों में; **वेदाः**—वैदिक साहित्य; **निस्त्रै-गुण्यः**—प्रकृति के तीनों गुणों से परे; **भव**—होओ; **अर्जुन**—हे अर्जुन; **निर्द्वन्द्वः**—द्वैतभाव से मुक्त;

नित्य-सत्त्व-स्थः—नित्य शुद्धसत्त्व में स्थित; **निर्योग-क्षेमः**—लाभ तथा रक्षा के भावों से मुक्त; **आत्म-वान्**—आत्मा में स्थित।

वेदों में मुख्यतया प्रकृति के तीनों गुणों का वर्णन हुआ है। हे अर्जुन! इन तीनों गुणों से ऊपर उठो। समस्त द्वैतों और लाभ तथा सुरक्षा की सारी चिन्ताओं से मुक्त होकर आत्म-परायण बनो।

तात्पर्य : सारे भौतिक कार्यों में प्रकृति के तीनों गुणों की क्रियाएँ तथा प्रतिक्रियाएँ निहित होती हैं। इनका उद्देश्य कर्म-फल होता है जो भौतिक जगत् में बन्धन का कारण है। *वेदों* में मुख्यतया सकाम कर्मों का वर्णन है जिससे सामान्य जन क्रमशः इन्द्रियतृप्ति के क्षेत्र से उठकर आध्यात्मिक धरातल तक पहुँच सकें। कृष्ण अपने शिष्य तथा मित्र के रूप में अर्जुन को सलाह देते हैं कि वह *वेदान्त* दर्शन के आध्यात्मिक पद तक ऊपर उठे जिसका प्रारम्भ *ब्रह्म-जिज्ञासा* अथवा परम आध्यात्मिकता पर प्रश्नों से होता है। इस भौतिक जगत् के सारे प्राणी अपने अस्तित्व के लिए कठिन संघर्ष करते रहते हैं। उनके लिए भगवान् ने इस भौतिक जगत् की सृष्टि करने के पश्चात् वैदिक ज्ञान प्रदान किया जो जीवन-यापन तथा भवबन्धन से छूटने का उपदेश देता है। जब इन्द्रियतृप्ति के कार्य यथा *कर्मकाण्ड* समाप्त हो जाते हैं तो *उपनिषदों* के रूप में भगवत् साक्षात्कार का अवसर प्रदान किया जाता है। ये *उपनिषद्* विभिन्न वेदों के अंश हैं उसी प्रकार जैसे *भगवद्गीता* पंचम वेद *महाभारत* का एक अंग है। *उपनिषदों* से आध्यात्मिक जीवन का शुभारम्भ होता है।

जब तक भौतिक शरीर का अस्तित्व है तब तक भौतिक गुणों की क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ होती रहती हैं। मनुष्य को चाहिए कि सुख-दुख या शीत-ग्रीष्म जैसी द्वैतताओं को सहन करना सीखे और इस प्रकार हानि तथा लाभ की चिन्ता से मुक्त हो जाय। जब मनुष्य कृष्ण की इच्छा पर पूर्णतया आश्रित रहता है तो यह दिव्य अवस्था प्राप्त होती है।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥ ४६॥

यावान्—जितना सारा; **अर्थः**—प्रयोजन होता है; **उद-पाने**—जलकूप में; **सर्वतः**—सभी प्रकार से; **सम्प्लुत-उदके**—विशाल जलाशय में; **तावान्**—उसी तरह; **सर्वेषु**—समस्त; **वेदेषु**—वेदों में; **ब्राह्मणस्य**—परब्रह्म को जानने वाले का; **विजानतः**—पूर्ण ज्ञानी का।

एक छोटे से कूप का सारा कार्य एक विशाल जलाशय से तुरन्त पूरा हो जाता है। इसी प्रकार वेदों के आन्तरिक तात्पर्य जानने वाले को उनके सारे प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं।

तात्पर्य : वेदों के *कर्मकाण्ड* विभाग में वर्णित अनुष्ठानों एवं यज्ञों का ध्येय आत्म-साक्षात्कार के क्रमिक विकास को प्रोत्साहित करना है। और आत्म-साक्षात्कार का ध्येय *भगवद्गीता* के पंद्रहवें अध्याय में (१५.१५) इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—वेद

अध्ययन का ध्येय जगत् के आदि कारण भगवान् कृष्ण को जानना है। अतः आत्म-साक्षात्कार का अर्थ है—कृष्ण को तथा उनके साथ अपने शाश्वत सम्बन्ध को समझना। कृष्ण के साथ जीवों के सम्बन्ध का भी उल्लेख *भगवद्गीता* के पंद्रहवें अध्याय में (१५.७) ही हुआ है। जीवात्माएँ भगवान् के अंश स्वरूप हैं, अतः प्रत्येक जीव द्वारा कृष्णभावनामृत को जागृत करना वैदिक ज्ञान की सर्वोच्च पूर्णावस्था है। *श्रीमद्भागवत* में (३.३३.७) इसकी पुष्टि इस प्रकार हुई है—

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥

"हे प्रभो, आपके पवित्र नाम का जाप करने वाला भले ही *चाण्डाल* जैसे निम्न परिवार में क्यों न उत्पन्न हुआ हो, किन्तु वह आत्म-साक्षात्कार के सर्वोच्च पद पर स्थित होता है। ऐसा व्यक्ति अवश्य ही वैदिक अनुष्ठानों के अनुसार सारी तपस्याएँ सम्पन्न किये होता है और अनेकानेक बार तीर्थस्थानों में स्नान करके वेदों का अध्ययन किये होता है। ऐसा व्यक्ति आर्य कुल में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है।"

अतः मनुष्य को इतना बुद्धिमान् तो होना ही चाहिए कि केवल अनुष्ठानों के प्रति आसक्त न रहकर वेदों के उद्देश्य को समझे और अधिकाधिक इन्द्रियतृप्ति के लिए ही स्वर्गलोक जाने की कामना न करे। इस युग में सामान्य व्यक्ति के लिए न तो वैदिक अनुष्ठानों के समस्त विधि-विधानों का पालन करना सम्भव है और न सारे *वेदान्त* तथा *उपनिषदों* का सर्वांग अध्ययन कर पाना सहज है। *वेदों* के उद्देश्य को सम्पन्न करने के लिए प्रचुर समय, शक्ति, ज्ञान तथा साधन की आवश्यकता होती है। इस युग में ऐसा कर पाना सम्भव नहीं है, किन्तु वैदिक संस्कृति का परम लक्ष्य भगवन्नाम कीर्तन द्वारा प्राप्त हो जाता है जिसकी संस्तुति पतितात्माओं के उद्धारक भगवान् चैतन्य द्वारा हुई है। जब चैतन्य से महान वैदिक पंडित प्रकाशानन्द सरस्वती ने पूछा कि आप *वेदान्त* दर्शन का अध्ययन न करके एक भावुक की भाँति पवित्र नाम का कीर्तन क्यों करते हैं तो उन्होंने उत्तर दिया कि मेरे गुरु ने मुझे बड़ा मूर्ख समझकर भगवान् कृष्ण के नाम का कीर्तन करने की आज्ञा दी। अतः उन्होंने ऐसा ही किया और वे पागल की भाँति भावोन्मत्त हो गए। इस कलियुग में अधिकांश जनता मूर्ख है और वेदान्त दर्शन समझ पाने के लिए पर्याप्त शिक्षित नहीं है। *वेदान्त* दर्शन के परम उद्देश्य की पूर्ति भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करने से हो जाती है। *वेदान्त* वैदिक ज्ञान की पराकाष्ठा है और *वेदान्त* दर्शन के प्रणेता तथा ज्ञाता भगवान् कृष्ण हैं। सबसे बड़ा *वेदान्ती* तो वह महात्मा है जो भगवान् के पवित्र नाम का जप करने में आनन्द लेता है। सम्पूर्ण वैदिक रहस्यवाद का यही चरम उद्देश्य है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ ४७॥

कर्मणि—कर्म करने में; **एव**—निश्चय ही; **अधिकारः**—अधिकार; **ते**—तुम्हारा; **मा**—कभी नहीं; **फलेषु**—(कर्म) फलों में; **कदाचन**—कदापि; **मा**—कभी नहीं; **कर्म-फल**—कर्म का फल; **हेतुः**—कारण; **भूः**—होओ; **मा**—कभी नहीं; **ते**—तुम्हारी; **सङ्गः**—आसक्ति; **अस्तु**—हो; **अकर्मणि**—कर्म न करने में।

तुम्हें अपना कर्म (कर्तव्य) करने का अधिकार है, किन्तु कर्म के फलों के तुम अधिकारी नहीं हो। तुम न तो कभी अपने आपको अपने कर्मों के फलों का कारण मानो, न ही कर्म न करने में कभी आसक्त होओ।

तात्पर्य : यहाँ पर तीन विचारणीय बातें हैं—कर्म (स्वधर्म), विकर्म तथा अकर्म। कर्म (स्वधर्म) वे कार्य हैं जिनका आदेश प्रकृति के गुणों के रूप में प्राप्त किया जाता है। अधिकारी की सम्मति के बिना किये गये कर्म विकर्म कहलाते हैं और अकर्म का अर्थ है—अपने कर्मों को न करना। भगवान् ने अर्जुन को उपदेश दिया कि वह निष्क्रिय न हो, अपितु फल के प्रति आसक्त हुए बिना अपना कर्म करे। कर्म फल के प्रति आसक्त रहने वाला भी कर्म का कारण है। इस तरह वह ऐसे कर्मफलों का भोक्ता होता है।

जहाँ तक निर्धारित कर्मों का सम्बन्ध है वे तीन उपश्रेणियों के हो सकते हैं—यथा नित्यकर्म, आपात्कालीन कर्म तथा इच्छित कर्म। नित्यकर्म फल की इच्छा बिना शास्त्रों के निर्देशानुसार सतोगुण में रहकर किये जाते हैं। फल युक्त कर्म बन्धन के कारण बनते हैं, अतः ऐसे कर्म अशुभ हैं। हर व्यक्ति को अपने कर्म पर अधिकार है, किन्तु उसे फल से अनासक्त होकर कर्म करना चाहिए। ऐसे निष्काम कर्म निस्सन्देह मुक्ति पथ की ओर ले जाने वाले हैं।

अतएव भगवान् ने अर्जुन को फलासक्ति रहित होकर कर्म (स्वधर्म) के रूप में युद्ध करने की आज्ञा दी। उसका युद्ध-विमुख होना आसक्ति का दूसरा पहलू है। ऐसी आसक्ति से कभी मुक्ति पथ की प्राप्ति नहीं हो पाती। आसक्ति चाहे स्वीकारात्मक हो या निषेधात्मक, वह बन्धन का कारण है। अकर्म पापमय है। अतः कर्तव्य के रूप में युद्ध करना ही अर्जुन के लिए मुक्ति का एकमात्र कल्याणकारी मार्ग था।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥ ४८॥

योगस्थः :—समभाव होकर; **कुरु**—करो; **कर्माणि**—अपने कर्म; **सङ्गम्**—आसक्ति को; **त्यक्त्वा**—त्याग कर; **धनञ्जय**—हे अर्जुन; **सिद्धि-असिद्ध्योः**—सफलता तथा विफलता में; **समः**—समभाव; **भूत्वा**—होकर; **समत्वम्**—समता; **योगः**—योग; **उच्यते**—कहा जाता है।

हे अर्जुन! जय अथवा पराजय की समस्त आसक्ति त्याग कर समभाव से अपना कर्म करो। ऐसी समता योग कहलाती है।

तात्पर्य : कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि वह *योग* में स्थित होकर कर्म करे और *योग* है क्या? योग का अर्थ है सदैव चंचल रहने वाली इन्द्रियों को वश में रखते हुए परमतत्त्व में मन को एकाग्र करना। और परमतत्त्व कौन है? भगवान् ही परमतत्त्व हैं और चूँकि वे स्वयं अर्जुन को युद्ध करने के लिए कह रहे हैं, अतः अर्जुन को युद्ध के फल से कोई सरोकार नहीं है। जय या पराजय कृष्ण के लिए विचारणीय हैं, अर्जुन को तो बस श्रीकृष्ण के निर्देशानुसार कर्म करना है। कृष्ण के निर्देश का पालन ही वास्तविक *योग* है और इसका अभ्यास कृष्णभावनामृत नामक विधि द्वारा किया जाता है। एकमात्र कृष्णभावनामृत के माध्यम से ही स्वामित्व भाव का परित्याग किया जा सकता है। इसके

लिए उसे कृष्ण का दास या उनके दासों का दास बनना होता है। कृष्णभावनामृत में कर्म करने की यही एक विधि है जिससे *योग* में स्थित होकर कर्म किया जा सकता है।

अर्जुन *क्षत्रिय* है, अतः वह *वर्णाश्रम-धर्म* का अनुयायी है। *विष्णु-पुराण* में कहा गया है कि वर्णाश्रम-धर्म का एकमात्र उद्देश्य विष्णु को प्रसन्न करना है। सांसारिक नियम है कि लोग पहले अपनी तुष्टि करते हैं, किन्तु यहाँ तो अपने को तुष्ट न करके कृष्ण को तुष्ट करना है। अतः कृष्ण को तुष्ट किये बिना कोई *वर्णाश्रम-धर्म* का पालन कर भी नहीं सकता। यहाँ पर परोक्ष रूप से अर्जुन को कृष्ण द्वारा बताई गई विधि के अनुसार कर्म करने का आदेश है।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥ ४९॥

दूरेण—दूर से ही त्याग दो; **हि**—निश्चय ही; **अवरम्**—गर्हित, निन्दनीय; **कर्म**—कर्म; **बुद्धि-योगात्**—कृष्णभावनामृत के बल पर; **धनञ्जय**—हे सम्पत्ति को जीतने वाले; **बुद्धौ**—ऐसी चेतना में; **शरणम्**—पूर्ण समर्पण, आश्रय; **अन्विच्छ**—प्रयत्न करो; **कृपणाः**—कंजूस व्यक्ति; **फल-हेतवः**—सकाम कर्म की अभिलाषा वाले।

हे धनंजय! भक्ति के द्वारा समस्त गर्हित कर्मों से दूर रहो और उसी भाव से भगवान् की शरण ग्रहण करो। जो व्यक्ति अपने सकाम कर्म-फलों को भोगना चाहते हैं, वे कृपण हैं।

तात्पर्य : जो व्यक्ति भगवान् के दास रूप में अपने स्वरूप को समझ लेता है वह कृष्णभावनामृत में स्थित रहने के अतिरिक्त सारे कर्मों को छोड़ देता है। जीव के लिए ऐसी भक्ति कर्म का सही मार्ग है। केवल कृपण ही अपने सकाम कर्मों का फल भोगना चाहते हैं, किन्तु इससे वे भवबन्धन में और अधिक फँसते जाते हैं। कृष्णभावनामृत के अतिरिक्त जितने भी कर्म सम्पन्न किये जाते हैं वे गर्हित हैं क्योंकि इससे कर्ता जन्म-मृत्यु के चक्र में लगातार फँसा रहता है। अतः कभी इसकी आकांक्षा नहीं करनी चाहिए कि मैं कर्म का कारण बनूँ। कृष्णभावनामृत में हर कार्य कृष्ण की तुष्टि के लिए किया जाना चाहिए। कृपणों को यह ज्ञात नहीं है कि दैववश या कठोर श्रम से अर्जित सम्पत्ति का किस तरह सदुपयोग करें। मनुष्य को अपनी सारी शक्ति कृष्णभावनामृत अर्जित करने में लगानी चाहिए। इससे उसका जीवन सफल हो सकेगा। कृपणों की भाँति अभागे व्यक्ति अपनी मानवी शक्ति को भगवान् की सेवा में नहीं लगाते।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥ ५०॥

बुद्धि-युक्तः—भक्ति में लगा रहने वाला; **जहाति**—मुक्त हो सकता है; **इह**—इस जीवन में; **उभे**—दोनों; **सुकृत-दुष्कृते**—अच्छे तथा बुरे फल; **तस्मात्**—अतः; **योगाय**—भक्ति के लिए; **युज्यस्व**—इस तरह लग जाओ; **योगः**—कृष्णभावनामृत; **कर्मसु**—समस्त कार्यों में; **कौशलम्**—कुशलता, कला।

भक्ति में संलग्न मनुष्य इस जीवन में ही अच्छे तथा बुरे कार्यों से अपने को मुक्त कर लेता है। अतः योग के लिए प्रयत्न करो क्योंकि सारा कार्य-कौशल यही है।

तात्पर्य : जीवात्मा अनादि काल से अपने अच्छे तथा बुरे कर्म के फलों को संचित करता रहा है। फलतः वह निरन्तर अपने स्वरूप से अनभिज्ञ बना रहा है। इस अज्ञान को *भगवद्गीता* के उपदेश से दूर किया जा सकता है। यह हमें पूर्ण रूप में भगवान् श्रीकृष्ण की शरण में जाने तथा जन्म-जन्मान्तर कर्म-फल की शृंखला का शिकार बनने से मुक्त होने का उपदेश देती है, अतः अर्जुन को कृष्णभावनामृत में कार्य करने के लिए कहा गया है क्योंकि कर्मफल के शुद्ध होने की यही प्रक्रिया है।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥५१॥

कर्म-जम्—सकाम कर्मों के कारण; **बुद्धि-युक्ताः**—भक्ति में लगे; **हि**—निश्चय ही; **फलम्**—फल; **त्यक्त्वा**—त्याग कर; **मनीषिणः**—बड़े-बड़े ऋषि मुनि या भक्तगण; **जन्म-बन्ध**—जन्म तथा मृत्यु के बन्धन से; **विनिर्मुक्ताः**—मुक्त; **पदम्**—पद पर; **गच्छन्ति**—पहुँचते हैं; **अनामयम्**—बिना कष्ट के।

इस तरह भगवद्भक्ति में लगे रहकर बड़े-बड़े ऋषि, मुनि अथवा भक्तगण अपने आपको इस भौतिक संसार में कर्म के फलों से मुक्त कर लेते हैं। इस प्रकार वे जन्म-मृत्यु के चक्र से छूट जाते हैं और भगवान् के पास जाकर उस अवस्था को प्राप्त करते हैं, जो समस्त दुखों से परे है।

तात्पर्य : मुक्त जीवों का सम्बन्ध उस स्थान से होता है जहाँ भौतिक कष्ट नहीं होते। *भागवत* में (१०.१४.५८) कहा गया है—

समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं महत्पदं पुण्ययशो मुरारेः।
भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं पदं पदं यद्विपदां न तेषाम्॥

"जिसने उन भगवान् के चरणकमल रूपी नाव को ग्रहण कर लिया है, जो दृश्य जगत् के आश्रय हैं और मुकुन्द नाम से विख्यात हैं अर्थात् *मुक्ति* के दाता हैं, उसके लिए यह भवसागर गोखुर में समाये जल के समान है। उसका लक्ष्य *परं पदम्* है अर्थात् वह स्थान जहाँ भौतिक कष्ट नहीं है या कि वैकुण्ठ है; वह स्थान नहीं जहाँ पद-पद पर संकट हो।"

अज्ञानवश मनुष्य यह नहीं समझ पाता कि यह भौतिक जगत् ऐसा दुखमय स्थान है जहाँ पद-पद पर संकट हैं। केवल अज्ञानवश अल्पज्ञानी पुरुष यह सोच कर कि कर्मों से वे सुखी रह सकेंगे सकाम कर्म करते हुए स्थिति को सहन करते हैं। उन्हें यह ज्ञात नहीं है कि इस संसार में कहीं भी कोई भी शरीर दुखों से रहित नहीं है। संसार में सर्वत्र जीवन के दुख—जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि—विद्यमान हैं। किन्तु जो अपने वास्तविक स्वरूप को समझ लेता है और इस प्रकार भगवान् की स्थिति को समझ लेता है, वही भगवान् की प्रेमा-भक्ति में लगता है। फलस्वरूप वह वैकुण्ठलोक जाने का अधिकारी बन जाता है जहाँ न तो भौतिक कष्टमय जीवन है न ही काल का प्रभाव तथा मृत्यु है।

अपने स्वरूप को जानने का अर्थ है भगवान् की अलौकिक स्थिति को भी जान लेना। जो भ्रमवश यह सोचता है कि जीव की स्थिति तथा भगवान् की स्थिति एकसमान हैं उसे समझो कि वह अंधकार में है और स्वयं भगवद्भक्ति करने में असमर्थ है। वह अपने आपको प्रभु मान लेता है और इस तरह जन्म-मृत्यु की पुनरावृत्ति का पथ चुन लेता है। किन्तु जो यह समझते हुए कि उसकी स्थिति सेवक की है अपने को भगवान् की सेवा में लगा देता है वह तुरन्त ही वैकुण्ठलोक जाने का अधिकारी बन जाता है। भगवान् की सेवा *कर्मयोग* या *बुद्धियोग* कहलाती है, जिसे स्पष्ट शब्दों में भगवद्भक्ति कहते हैं।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥ ५२॥

यदा–जब; **ते**–तुम्हारा; **मोह**–मोह के; **कलिलम्**–घने जंगल को; **बुद्धिः**–बुद्धिमय दिव्य सेवा; **व्यतितरिष्यति**–पार कर जाती है; **तदा**–उस समय; **गन्ता असि**–तुम जाओगे; **निर्वेदम्**–विरक्ति को; **श्रोतव्यस्य**–सुनने योग्य के प्रति; **श्रुतस्य**–सुने हुए का; **च**–भी।

जब तुम्हारी बुद्धि मोह रूपी सघन वन को पार कर जायेगी तो तुम सुने हुए तथा सुनने योग्य सब के प्रति अन्यमनस्क हो जाओगे।

तात्पर्य : भगवद्भक्तों के जीवन में ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त हैं जिन्हें भगवद्भक्ति के कारण वैदिक कर्मकाण्ड से विरक्ति हो गई। जब मनुष्य श्रीकृष्ण को तथा उनके साथ अपने सम्बन्ध को वास्तविक रूप में समझ लेता है तो वह सकाम कर्मों के अनुष्ठानों के प्रति पूर्णतया अन्यमनस्क हो जाता है, भले ही वह अनुभवी *ब्राह्मण* क्यों न हो। भक्त परम्परा के महान भक्त तथा आचार्य श्री माधवेन्द्रपुरी का कहना है—

सन्ध्यावन्दन भद्रमस्तु भवतो भोः स्नान तुभ्यं नमो।
भो देवाः पितरश्च तर्पणविधौ नाहं क्षमः क्षम्यताम्॥
यत्र क्वापि निषद्य यादवकुलोत्तमस्य कंसद्विषः।
स्मारं स्मारमघं हरामि तदलं मन्ये किमन्येन मे॥

"हे मेरी त्रिकाल प्रार्थनाओ, तुम्हारी जय हो। हे स्नान, तुम्हें प्रणाम है। हे देवपितृगण, अब मैं आप लोगों के लिए तर्पण करने में असमर्थ हूँ। अब तो जहाँ भी बैठता हूँ, यादव कुलवंशी, कंस के हंता श्रीकृष्ण का ही स्मरण करता हूँ और इस तरह मैं अपने पापमय बन्धन से मुक्त हो सकता हूँ। मैं सोचता हूँ कि यही मेरे लिए पर्याप्त है।"

वैदिक रस्में तथा अनुष्ठान यथा त्रिकाल संध्या, प्रातःकालीन स्नान, पितृ-तर्पण आदि नवदीक्षितों के लिए अनिवार्य हैं। किन्तु जब कोई पूर्णतया कृष्णभावनाभावित हो और कृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगा हो, तो वह इन विधि-विधानों के प्रति उदासीन हो जाता है, क्योंकि उसे पहले ही सिद्धि प्राप्त हो चुकी होती है। यदि कोई परमेश्वर कृष्ण की सेवा करके ज्ञान को प्राप्त होता है तो उसे शास्त्रों में वर्णित विभिन्न प्रकार की तपस्याएँ तथा यज्ञ करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। इसी प्रकार जो यह नहीं समझता कि वेदों का उद्देश्य कृष्ण तक पहुँचना है और अपने आपको अनुष्ठानादि में

व्यस्त रखता है, वह केवल अपना समय नष्ट करता है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति शब्द-ब्रह्म की सीमा या *वेदों* तथा *उपनिषदों* की परिधि को भी लाँघ जाते हैं।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥५३॥

श्रुति—वैदिक ज्ञान के; **विप्रतिपन्ना**—कर्मफलों से प्रभावित हुए बिना; **ते**—तुम्हारा; **यदा**—जब; **स्थास्यति**—स्थिर हो जाएगा; **निश्चला**—एकनिष्ठ; **समाधौ**—दिव्य चेतना या कृष्णभावनामृत में; **अचला**—स्थिर; **बुद्धिः**—बुद्धि; **तदा**—तब; **योगम्**—आत्म-साक्षात्कार; **अवाप्स्यसि**—तुम प्राप्त करोगे।

जब तुम्हारा मन वेदों की अलंकारमयी भाषा से विचलित न हो और वह आत्म-साक्षात्कार की समाधि में स्थिर हो जाय, तब तुम्हें दिव्य चेतना प्राप्त हो जायेगी।

तात्पर्य : 'कोई समाधि में है' इस कथन का अर्थ यह होता है कि वह पूर्णतया कृष्णभावनाभावित है अर्थात् उसने पूर्ण *समाधि* में ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् को प्राप्त कर लिया है। आत्म-साक्षात्कार की सर्वोच्च सिद्धि यह जान लेना है कि मनुष्य कृष्ण का शाश्वत दास है और उसका एकमात्र कर्तव्य कृष्णभावनामृत में अपने सारे कर्म करना है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति या भगवान् के एकनिष्ठ भक्त को न तो *वेदों* की अलंकारमयी वाणी से विचलित होना चाहिए न ही स्वर्ग जाने के उद्देश्य से सकाम कर्मों में प्रवृत्त होना चाहिए। कृष्णभावनामृत में मनुष्य कृष्ण के सान्निध्य में रहता है और कृष्ण से प्राप्त सारे आदेश उस दिव्य अवस्था में समझे जा सकते हैं। ऐसे कार्यों के परिणामस्वरूप निश्चयात्मक ज्ञान की प्राप्ति निश्चित है। उसे कृष्ण या उनके प्रतिनिधि गुरु की आज्ञाओं का पालन मात्र करना होगा।

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥५४॥

अर्जुनः उवाच—अर्जुन ने कहा; **स्थित-प्रज्ञस्य**—कृष्णभावनामृत में स्थिर हुए व्यक्ति की; **का**—क्या; **भाषा**—भाषा; **समाधि-स्थस्य**—समाधि में स्थित पुरुष का; **केशव**—हे कृष्ण; **स्थित-धीः**—कृष्णभावना में स्थिर व्यक्ति; **किम्**—क्या; **प्रभाषेत**—बोलता है; **किम्**—कैसे; **आसीत**—रहता है; **व्रजेत**—चलता है; **किम्**—कैसे।

अर्जुन ने कहा—हे कृष्ण! अध्यात्म में लीन चेतना वाले व्यक्ति (स्थितप्रज्ञ) के क्या लक्षण हैं? वह कैसे बोलता है तथा उसकी भाषा क्या है? वह किस तरह बैठता और चलता है?

तात्पर्य : जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के उसकी विशिष्ट स्थिति के अनुसार कुछ लक्षण होते हैं उसी प्रकार कृष्णभावनाभावित पुरुष का भी विशिष्ट स्वभाव होता है—यथा उसका बोलना, चलना, सोचना आदि। जिस प्रकार धनी पुरुष के कुछ लक्षण होते हैं, जिनसे वह धनवान जाना जाता है, जिस तरह रोगी अपने रोग के लक्षणों से रुग्ण जाना जाता है या कि विद्वान् अपने गुणों से विद्वान् जाना जाता है, उसी तरह कृष्ण

की दिव्य चेतना से युक्त व्यक्ति अपने विशिष्ट लक्षणों से जाना जाता है। इन लक्षणों को *भगवद्गीता* से जाना जा सकता है। किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कृष्णभावनाभावित व्यक्ति किस तरह बोलता है, क्योंकि वाणी ही किसी मनुष्य का सबसे महत्त्वपूर्ण गुण है। कहा जाता है कि मूर्ख का पता तब तक नहीं लगता जब तक वह बोलता नहीं। एक बने-ठने मूर्ख को तब तक नहीं पहचाना जा सकता जब तक वह बोले नहीं, किन्तु बोलते ही उसका यथार्थ रूप प्रकट हो जाता है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति का सर्वप्रमुख लक्षण यह है कि वह केवल कृष्ण तथा उन्हीं से सम्बद्ध विषयों के बारे में बोलता है। फिर तो अन्य लक्षण स्वतः प्रकट हो जाते हैं, जिनका उल्लेख आगे किया गया है।

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥ ५५॥

श्रीभगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; **प्रजहाति**—त्यागता है; **यदा**—जब; **कामान्**—इन्द्रियतृप्ति की इच्छाएँ; **सर्वान्**—सभी प्रकार की; **पार्थ**—हे पृथापुत्र; **मनः गतान्**—मनोरथ का; **आत्मनि**—आत्मा की शुद्ध अवस्था में; **एव**—निश्चय ही; **आत्मना**—विशुद्ध मन से; **तुष्टः**—सन्तुष्ट, प्रसन्न; **स्थित-प्रज्ञः**—अध्यात्म में स्थित; **तदा**—उस समय, तब; **उच्यते**—कहा जाता है।

श्रीभगवान् ने कहा—हे पार्थ! जब मनुष्य मनोधर्म से उत्पन्न होने वाली इन्द्रियतृप्ति की समस्त कामनाओं का परित्याग कर देता है और जब इस तरह से विशुद्ध हुआ उसका मन आत्मा में सन्तोष प्राप्त करता है तो वह विशुद्ध दिव्य चेतना को प्राप्त (स्थितप्रज्ञ) कहा जाता है।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* में पुष्टि हुई है कि जो मनुष्य पूर्णतया कृष्णभावनाभावित या भगवद्भक्त होता है उसमें महर्षियों के समस्त सद्गुण पाये जाते हैं, किन्तु जो व्यक्ति अध्यात्म में स्थित नहीं होता उसमें एक भी योग्यता नहीं होती क्योंकि वह अपने मनोधर्म पर ही आश्रित रहता है। फलतः यहाँ यह ठीक ही कहा गया है कि व्यक्ति को मनोधर्म द्वारा कल्पित सारी विषय-वासनाओं को त्यागना होता है। कृत्रिम साधन से इनको रोक पाना सम्भव नहीं। किन्तु यदि कोई कृष्णभावनामृत में लगा हो तो सारी विषय-वासनाएँ स्वतः बिना किसी प्रयास के दब जाती हैं। अतः मनुष्य को बिना किसी झिझक के कृष्णभावनामृत में लगना होगा क्योंकि यह भक्ति उसे दिव्य चेतना प्राप्त करने में सहायक होगी। अत्यधिक उन्नत जीवात्मा (महात्मा) अपने आपको परमेश्वर का शाश्वत दास मानकर आत्मतुष्ट रहता है। ऐसे आध्यात्मिक पुरुष के पास भौतिकता से उत्पन्न एक भी विषय-वासना फटक नहीं पाती। वह अपने को निरन्तर भगवान् का सेवक मानते हुए सहज रूप में सदैव प्रसन्न रहता है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥ ५६॥

दुःखेषु–तीनों तापों में; **अनुद्विग्न-मनाः**–मन में विचलित हुए बिना; **सुखेषु**–सुख में; **विगत-स्पृहः**–रुचिरहित होने; **वीत**–मुक्त; **राग**–आसक्ति; **भय**–भय; **क्रोधः**–तथा क्रोध से; **स्थित-धीः**–स्थिर मन वाला; **मुनिः**–मुनि; **उच्यते**–कहलाता है।

जो त्रय तापों के होने पर भी मन में विचलित नहीं होता अथवा सुख में प्रसन्न नहीं होता और जो आसक्ति, भय तथा क्रोध से मुक्त है, वह स्थिर मन वाला मुनि कहलाता है।

तात्पर्य : *मुनि* शब्द का अर्थ है वह जो शुष्क चिन्तन के लिए मन को अनेक प्रकार से उद्वेलित करे, किन्तु किसी तथ्य पर न पहुँच सके। कहा जाता है कि प्रत्येक मुनि का अपना-अपना दृष्टिकोण होता है और जब तक एक मुनि अन्य मुनियों से भिन्न न हो तब तक उसे वास्तविक मुनि नहीं कहा जा सकता। *न चासावृषिर्यस्य मतं न भिन्नम्* (*महाभारत*, वनपर्व ३१३.११७) किन्तु जिस *स्थितधीः मुनि* का भगवान् ने यहाँ उल्लेख किया है वह सामान्य *मुनि* से भिन्न है। *स्थितधीः मुनि* सदैव कृष्णभावनाभावित रहता है क्योंकि वह सारा सृजनात्मक चिन्तन पूरा कर चुका होता है। वह *प्रशान्त निःशेष मनोरथान्तर* (*स्तोत्र रत्न* ४३) कहलाता है या जिसने शुष्कचिन्तन की अवस्था पार कर ली है और इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि भगवान् श्रीकृष्ण या वासुदेव ही सब कुछ हैं (*वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः*) वह स्थिरचित्त मुनि कहलाता है। ऐसा कृष्णभावनाभावित व्यक्ति तीनों तापों के संघात से तनिक भी विचलित नहीं होता क्योंकि वह इन कष्टों (तापों) को भगवत्कृपा के रूप में लेता है और पूर्व पापों के कारण अपने को अधिक कष्ट के लिए योग्य मानता है और वह देखता है कि उसके सारे दुख भगवत्कृपा से रंचमात्र रह जाते हैं। इसी प्रकार जब वह सुखी होता है तो अपने को सुख के लिए अयोग्य मानकर इसका भी श्रेय भगवान् को देता है। वह सोचता है कि भगवत्कृपा से ही वह ऐसी सुखद स्थिति में है और भगवान् की सेवा और अच्छी तरह से कर सकता है। और भगवान् की सेवा के लिए तो वह सदैव साहस करने के लिए सन्नद्ध रहता है। वह राग या विराग से प्रभावित नहीं होता। राग का अर्थ होता है अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए वस्तुओं को ग्रहण करना और विराग का अर्थ है ऐसी ऐंद्रिय आसक्ति का अभाव। किन्तु कृष्णभावनामृत में स्थिर व्यक्ति में न राग होता है न विराग क्योंकि उसका पूरा जीवन ही भगवत्सेवा में अर्पित रहता है। फलतः सारे प्रयास असफल रहने पर भी वह क्रुद्ध नहीं होता। चाहे विजय हो या न हो, कृष्णभावनाभावित व्यक्ति अपने संकल्प का पक्का होता है।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ५७॥

यः–जो; **सर्वत्र**–सभी जगह; **अनभिस्नेहः**–स्नेहशून्य; **तत्**–उस; **तत्**–उस; **प्राप्य**–प्राप्त करके; **शुभ**–अच्छा; **अशुभम्**–बुरा; **न**–कभी नहीं; **अभिनन्दति**–प्रशंसा करता है; **न**–कभी नहीं; **द्वेष्टि**–द्वेष करता है; **तस्य**–उसका; **प्रज्ञा**–पूर्ण ज्ञान; **प्रतिष्ठिता**–अचल।

इस भौतिक जगत् में जो व्यक्ति न तो शुभ की प्राप्ति से हर्षित होता है और न

अशुभ के प्राप्त होने पर उससे घृणा करता है, वह पूर्ण ज्ञान में स्थिर होता है।

तात्पर्य : भौतिक जगत् में सदा ही कुछ न कुछ उथल-पुथल होती रहती है—उसका परिणाम अच्छा हो चाहे बुरा। जो ऐसी उथल-पुथल से विचलित नहीं होता, जो अच्छे (शुभ) या बुरे (अशुभ) से अप्रभावित रहता है उसे कृष्णभावनामृत में स्थिर समझना चाहिए। जब तक मनुष्य इस भौतिक संसार में है तब तक अच्छाई या बुराई की सम्भावना रहती है क्योंकि यह संसार द्वैत (द्वंद्वों) से पूर्ण है। किन्तु जो कृष्णभावनामृत में स्थिर है वह अच्छाई या बुराई से अछूता रहता है क्योंकि उसका सरोकार कृष्ण से रहता है जो सर्वमंगलमय हैं। ऐसे कृष्णभावनामृत से मनुष्य पूर्ण ज्ञान की स्थिति प्राप्त कर लेता है, जिसे *समाधि* कहते हैं।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ५८॥

यदा—जब; **संहरते**—समेट लेता है; **च**—भी; **अयम्**—यह; **कूर्मः**—कछुवा; **अङ्गानि**—अंग; **इव**—सदृश; **सर्वशः**—एकसाथ; **इन्द्रियाणि**—इन्द्रियाँ; **इन्द्रिय-अर्थेभ्यः**—इन्द्रियविषयों से; **तस्य**—उसकी; **प्रज्ञा**—चेतना; **प्रतिष्ठिता**—स्थिर।

जिस प्रकार कछुवा अपने अंगों को संकुचित करके खोल के भीतर कर लेता है, उसी तरह जो मनुष्य अपनी इन्द्रियों को इन्द्रियविषयों से खींच लेता है, वह पूर्ण चेतना में दृढ़तापूर्वक स्थिर होता है।

तात्पर्य : किसी *योगी*, भक्त या आत्मसिद्ध व्यक्ति की कसौटी यह है कि वह अपनी योजना के अनुसार इन्द्रियों को वश में कर सके, किन्तु अधिकांश व्यक्ति अपनी इन्द्रियों के दास बने रहते हैं और इन्द्रियों के ही कहने पर चलते हैं। यह है उत्तर इस प्रश्न का कि *योगी* किस प्रकार स्थित होता है। इन्द्रियों की तुलना विषैले सर्पों से की गई है। वे अत्यन्त स्वतंत्रतापूर्वक तथा बिना किसी नियन्त्रण के कर्म करना चाहती हैं। *योगी* या भक्त को इन सर्पों को वश में करने के लिए, एक सपेरे की भाँति अत्यन्त प्रबल होना चाहिए। वह उन्हें कभी भी कार्य करने की छूट नहीं देता। शास्त्रों में अनेक आदेश हैं, उनमें से कुछ 'करो' तथा कुछ 'न करो' से सम्बद्ध हैं। जब तक कोई इन, 'करो या न करो' का पालन नहीं कर पाता और इन्द्रियभोग पर संयम नहीं बरतता है तब तक उसका कृष्णभावनामृत में स्थिर हो पाना असम्भव है। यहाँ पर सर्वश्रेष्ठ उदाहरण कछुवे का है। वह किसी भी समय अपने अंग समेट सकता है और पुनः विशिष्ट उद्देश्यों से उन्हें प्रकट कर सकता है। इसी प्रकार कृष्णभावनाभावित व्यक्तियों की इन्द्रियाँ भी केवल भगवान् की विशिष्ट सेवाओं के लिए काम आती हैं अन्यथा उनका संकोच कर लिया जाता है। अर्जुन को उपदेश दिया जा रहा है कि वह अपनी इन्द्रियों को आत्मतुष्टि में न करके भगवान् की सेवा में लगाये। अपनी इन्द्रियों को सदैव भगवान् की सेवा में लगाये रखना कूर्म द्वारा प्रस्तुत दृष्टान्त के अनुरूप है, जो अपनी इन्द्रियों को समेटे रखता है।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥५९॥

विषयाः—इन्द्रियभोग की वस्तुएँ; **विनिवर्तन्ते**—दूर रहने के लिए अभ्यास की जाती हैं; **निराहारस्य**—निषेधात्मक प्रतिबन्धों से; **देहिनः**—देहवान जीव के लिए; **रस-वर्जम्**—स्वाद का त्याग करता है; **रसः**—भोगेच्छा; **अपि**—यद्यपि है; **अस्य**—उसका; **परम्**—अत्यन्त उत्कृष्ट वस्तुएँ; **दृष्ट्वा**—अनुभव होने पर; **निवर्तते**—वह समाप्त हो जाता है।

देहधारी जीव इन्द्रियभोग से भले ही निवृत्त हो जाय पर उसमें इन्द्रियभोगों की इच्छा बनी रहती है। लेकिन उत्तम रस के अनुभव होने से ऐसे कार्यों को बन्द करने पर वह भक्ति में स्थिर हो जाता है।

तात्पर्य : जब तक कोई अध्यात्म को प्राप्त न हो तब तक इन्द्रियभोग से विरत होना असम्भव है। विधि-विधानों द्वारा इन्द्रियभोग को संयमित करने की विधि वैसी ही है जैसे किसी रोगी के किसी भोज्य पदार्थ खाने पर प्रतिबन्ध लगाना। किन्तु इससे रोगी की न तो भोजन के प्रति रुचि समाप्त होती है और न वह ऐसा प्रतिबन्ध लगाया जाना चाहता है। इसी प्रकार अल्पज्ञानी व्यक्तियों के लिए इन्द्रियसंयमन के लिए अष्टांग-योग जैसी विधि की संस्तुति की जाती है जिसमें *यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान* आदि सम्मिलित हैं। किन्तु जिसने कृष्णभावनामृत के पथ पर प्रगति के क्रम में परमेश्वर कृष्ण के सौन्दर्य का रसास्वादन कर लिया है, उसे जड़ भौतिक वस्तुओं में कोई रुचि नहीं रह जाती। अतः आध्यात्मिक जीवन में ये सारे प्रतिबन्ध अल्पज्ञानी नवदीक्षितों के लिए हैं। ऐसे प्रतिबन्ध तभी तक ठीक हैं जब तक कृष्णभावनामृत में रुचि जागृत नहीं हो जाती। और जब वास्तव में रुचि जग जाती है, तो मनुष्य में स्वतः ऐसी वस्तुओं के प्रति अरुचि उत्पन्न हो जाती है।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥६०॥

यततः—प्रयत्न करते हुए; **हि**—निश्चय ही; **अपि**—के बावजूद; **कौन्तेय**—हे कुन्तीपुत्र; **पुरुषस्य**—मनुष्य की; **विपश्चितः**—विवेक से युक्त; **इन्द्रियाणि**—इन्द्रियाँ; **प्रमाथीनि**—उत्तेजित; **हरन्ति**—फेंकती हैं; **प्रसभम्**—बल से; **मनः**—मन को।

हे अर्जुन! इन्द्रियाँ इतनी प्रबल तथा वेगवान हैं कि वे उस विवेकी पुरुष के मन को भी बलपूर्वक हर लेती हैं, जो उन्हें वश में करने का प्रयत्न करता है।

तात्पर्य : अनेक विद्वान्, ऋषि, दार्शनिक तथा अध्यात्मवादी इन्द्रियों को वश में करने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु उनमें से बड़े से बड़ा भी कभी-कभी विचलित मन के कारण इन्द्रियभोग का लक्ष्य बन जाता है। यहाँ तक कि विश्वामित्र जैसे महर्षि तथा पूर्ण योगी को भी मेनका के साथ विषयभोग में प्रवृत्त होना पड़ा, यद्यपि वे इन्द्रियनिग्रह के लिए कठिन तपस्या तथा योग कर रहे थे। विश्व इतिहास में इसी तरह के अनेक दृष्टान्त हैं। अतः पूर्णतया कृष्णभावनाभावित हुए बिना मन तथा इन्द्रियों को वश में कर सकना

अत्यन्त कठिन है। मन को कृष्ण में लगाये बिना मनुष्य ऐसे भौतिक कार्यों को बन्द नहीं कर सकता। परम साधु तथा भक्त यामुनाचार्य ने एक व्यावहारिक उदाहरण प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं—

यदवधि मम चेतः कृष्णपदारविन्दे
नवनवरसधामन्युद्यतं रन्तुमासीत्।
तदवधि बत नारीसंगमे स्मर्यमाने
भवति मुखविकारः सुष्ठु निष्ठीवनं च॥

"जब से मेरा मन भगवान् कृष्ण के चरणारविन्दों की सेवा में लग गया है और जब से मैं नित्य नव दिव्यरस का अनुभव करता रहा हूँ, तब से स्त्री-प्रसंग का विचार आते ही मेरा मन उधर से फिर जाता है और मैं ऐसे विचार पर थू-थू करता हूँ।"

कृष्णभावनामृत इतनी दिव्य सुन्दर वस्तु है कि इसके प्रभाव से भौतिक भोग स्वतः नीरस हो जाता है। यह वैसा ही है जैसे कोई भूखा मुनष्य प्रचुर मात्रा में पुष्टिदायक भोजन करके अपनी भूख मिटा ले। महाराज अम्बरीष भी परम *योगी* दुर्वासा मुनि पर इसीलिए विजय पा सके क्योंकि उनका मन निरन्तर कृष्णभावनामृत में लगा रहता था (*स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोः वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने*)।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ६१॥

तानि—उन इन्द्रियों को; **सर्वाणि**—समस्त; **संयम्य**—वश में करके; **युक्तः**—लगा हुआ; **आसीत**—स्थित होना चाहिए; **मत्-परः**—मुझमें; **वशे**—पूर्णतया वश में; **हि**—निश्चय ही; **यस्य**—जिसकी; **इन्द्रियाणि**—इन्द्रियाँ; **तस्य**—उसकी; **प्रज्ञा**—चेतना; **प्रतिष्ठिता**—स्थिर।

जो इन्द्रियों को पूर्णतया वश में रखते हुए इन्द्रिय-संयमन करता है और अपनी चेतना को मुझमें स्थिर कर देता है, वह मनुष्य स्थिरबुद्धि कहलाता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में बताया गया है कि योगसिद्धि की चरम अनुभूति कृष्णभावनामृत ही है। जब तक कोई कृष्णभावनाभावित नहीं होता तब तक इन्द्रियों को वश में करना सम्भव नहीं है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, दुर्वासा मुनि का झगड़ा महाराज अम्बरीष से हुआ, क्योंकि वे गर्ववश महाराज अम्बरीष पर क्रुद्ध हो गये, जिससे अपनी इन्द्रियों को रोक नहीं पाये। दूसरी ओर यद्यपि राजा मुनि के समान *योगी* न था, किन्तु वह कृष्ण का भक्त था और उसने मुनि के सारे अन्याय सह लिये, जिससे वह विजयी हुआ। राजा अपनी इन्द्रियों को वश में कर सका क्योंकि उसमें निम्नलिखित गुण थे, जिनका उल्लेख *श्रीमद्भागवत* में (९.४.१८-२०) हुआ है—

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोर्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये॥
मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्गसंगमम्।
घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते॥

पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने।
कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः॥

"राजा अम्बरीष ने अपना मन भगवान् कृष्ण के चरणारविन्दों पर स्थिर कर दिया, अपनी वाणी भगवान् के धाम की चर्चा करने में लगा दी, अपने कानों को भगवान् की लीलाओं के सुनने में, अपने हाथों को भगवान् का मन्दिर साफ करने में, अपनी आँखों को भगवान् का स्वरूप देखने में, अपने शरीर को भक्त के शरीर का स्पर्श करने में, अपनी नाक को भगवान् के चरणारविन्दों पर भेंट किये गये फूलों की गंध सूँघने में, अपनी जीभ को उन्हें अर्पित तुलसी दलों का आस्वाद करने में, अपने पाँवों को जहाँ-जहाँ भगवान् के मन्दिर हैं उन स्थानों की यात्रा करने में, अपने सिर को भगवान् को नमस्कार करने में तथा अपनी इच्छाओं को भगवान् की इच्छाओं को पूरा करने में लगा दिया और इन गुणों के कारण वे भगवान् के *मत्पर* भक्त बनने के योग्य हो गये।"

इस प्रसंग में *मत्पर* शब्द अत्यन्त सार्थक है। कोई मत्पर किस तरह हो सकता है इसका वर्णन महाराज अम्बरीष के जीवन में बताया गया है। *मत्पर* परम्परा के महान विद्वान् तथा आचार्य श्रील बलदेव विद्याभूषण का कहना है—*मद्भक्ति प्रभावेन सर्वेन्द्रियविजयपूर्विका स्वात्मदृष्टिः सुलभेति भावः*—इन्द्रियों को केवल कृष्ण की भक्ति के बल से वश में किया जा सकता है। कभी-कभी अग्नि का भी उदाहरण दिया जाता है—"जिस प्रकार जलती हुई अग्नि कमरे के भीतर की सारी वस्तुएँ जला देती है उसी प्रकार *योगी* के हृदय में स्थित भगवान् विष्णु सारे मलों को जला देते हैं।" *योग-सूत्र* भी विष्णु का ध्यान आवश्यक बताता है, शून्य का नहीं। तथाकथित *योगी* जो विष्णुपद को छोड़ कर अन्य किसी वस्तु का ध्यान धरते हैं वे केवल मृगमरीचिकाओं की खोज में वृथा ही अपना समय गँवाते हैं। हमें कृष्णभावनाभावित होना चाहिए—भगवान् के प्रति अनुरक्त होना चाहिए। असली *योग* का यही उद्देश्य है।

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥ ६२॥

ध्यायतः—चिन्तन करते हुए; **विषयान्**—इन्द्रिय विषयों को; **पुंसः**—मनुष्य की; **सङ्गः**—आसक्ति; **तेषु**—उन इन्द्रिय विषयों में; **उपजायते**—विकसित होती है; **सङ्गात्**—आसक्ति से; **सञ्जायते**—विकसित होती है; **कामः**—इच्छा; **कामात्**—काम से; **क्रोधः**—क्रोध; **अभिजायते**—प्रकट होता है।

इन्द्रियविषयों का चिन्तन करते हुए मनुष्य की उनमें आसक्ति उत्पन्न हो जाती है और ऐसी आसक्ति से काम उत्पन्न होता है और फिर काम से क्रोध प्रकट होता है।

तात्पर्य : जो मनुष्य कृष्णभावनाभावित नहीं है उसमें इन्द्रियविषयों के चिन्तन से भौतिक इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं। इन्द्रियों को किसी न किसी कार्य में लगे रहना चाहिए और यदि वे भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में नहीं लगी रहेंगी तो वे निश्चय ही भौतिकतावाद में लगना चाहेंगी। इस भौतिक जगत् में हर एक प्राणी इन्द्रियविषयों के अधीन है, यहाँ तक कि ब्रह्मा तथा शिवजी भी। तो स्वर्ग के अन्य देवताओं के विषय में क्या कहा जा सकता है? इस संसार के जंजाल से निकलने का एकमात्र उपाय है—कृष्णभावनाभावित

होना। शिव ध्यानमग्न थे, किन्तु जब पार्वती ने विषयभोग के लिए उन्हें उत्तेजित किया, तो वे सहमत हो गये जिसके फलस्वरूप कार्तिकेय का जन्म हुआ। इसी प्रकार तरुण भगवद्भक्त हरिदास ठाकुर को माया देवी के अवतार ने मोहित करने का प्रयास किया, किन्तु विशुद्ध कृष्ण भक्ति के कारण वे इस कसौटी में खरे उतरे। जैसा कि यामुनाचार्य के उपर्युक्त श्लोक में बताया जा चुका है, भगवान् का एकनिष्ठ भक्त भगवान् की संगति के आध्यात्मिक सुख का आस्वादन करने के कारण समस्त भौतिक इन्द्रियसुख को त्याग देता है। अतः जो कृष्णभावनाभावित नहीं है वह कृत्रिम दमन के द्वारा अपनी इन्द्रियों को वश में करने में कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, अन्त में अवश्य असफल होगा, क्योंकि विषय सुख का रंचमात्र विचार भी उसे इन्द्रियतृप्ति के लिए उत्तेजित कर देगा।

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥६३॥

क्रोधात्—क्रोध से; **भवति**—होता है; **सम्मोहः**—पूर्ण मोह; **सम्मोहात्**—मोह से; **स्मृति**—स्मरणशक्ति का; **विभ्रमः**—मोह; **स्मृति-भ्रंशात्**—स्मृति के मोह से; **बुद्धि-नाशः**—बुद्धि का विनाश; **बुद्धि-नाशात्**—तथा बुद्धिनाश से; **प्रणश्यति**—अधःपतन होता है।

क्रोध से पूर्ण मोह उत्पन्न होता है और मोह से स्मरणशक्ति का विभ्रम हो जाता है। जब स्मरणशक्ति भ्रमित हो जाती है, तो बुद्धि नष्ट हो जाती है और बुद्धि नष्ट होने पर मनुष्य भव-कूप में पुनः गिर जाता है।

तात्पर्य : श्रील रूप गोस्वामी ने हमें यह आदेश दिया है—

प्रापञ्चिकतया बुद्ध्या हरिसम्बन्धिवस्तुनः।
मुमुक्षुभिः परित्यागो वैराग्यं फल्गु कथ्यते॥

(*भक्तिरसामृत सिन्धु* १.२.२५८)

कृष्णभावनामृत के विकास से मनुष्य जान सकता है कि प्रत्येक वस्तु का उपयोग भगवान् की सेवा के लिए किया जा सकता है। जो कृष्णभावनामृत के ज्ञान से रहित हैं वे कृत्रिम ढंग से भौतिक विषयों से बचने का प्रयास करते हैं, फलतः वे भवबन्धन से मोक्ष की कामना करते हुए भी वैराग्य की चरम अवस्था को प्राप्त नहीं कर पाते। उनका तथाकथित वैराग्य *फल्गु* अर्थात् *गौण* कहलाता है। इसके विपरीत कृष्णभावनाभावित व्यक्ति जानता है कि प्रत्येक वस्तु का उपयोग भगवान् की सेवा में किस प्रकार किया जाय फलतः वह भौतिक चेतना का शिकार नहीं होता। उदाहरणार्थ, निर्विशेषवादी के अनुसार भगवान् निराकार होने के कारण भोजन नहीं कर सकते, अतः वह अच्छे खाद्यों से बचता रहता है, किन्तु भक्त जानता है कि कृष्ण परम भोक्ता हैं और भक्तिपूर्वक उन पर जो भी भेंट चढ़ायी जाती है, उसे वे खाते हैं। अतः भगवान् को अच्छा भोजन चढ़ाने के बाद भक्त *प्रसाद* ग्रहण करता है। इस प्रकार हर वस्तु प्राणवान हो जाती है और अधःपतन का कोई संकट नहीं रहता। भक्त कृष्णभावनामृत में रहकर *प्रसाद* ग्रहण करता है जबकि अभक्त इसे पदार्थ के रूप में तिरस्कार कर देता है। अतः निर्विशेषवादी अपने कृत्रिम त्याग के कारण जीवन को भोग नहीं पाता और यही कारण है कि मन के थोड़े

से विचलन से वह भव-कूप में पुनः आ गिरता है। कहा जाता है कि मुक्ति के स्तर तक पहुँच जाने पर भी ऐसा जीव नीचे गिर जाता है, क्योंकि उसे भक्ति का कोई आश्रय नहीं मिलता।

रागद्वेषविमुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥ ६४॥

राग—आसक्ति; **द्वेष**—तथा वैराग्य से; **विमुक्तैः**—मुक्त रहने वाले से; **तु**—लेकिन; **विषयान्**—इन्द्रियविषयों को; **इन्द्रियैः**—इन्द्रियों के द्वारा; **चरन्**—भोगता हुआ; **आत्म-वश्यैः**—अपने वश में; **विधेय-आत्मा**—नियमित स्वाधीनता पालक; **प्रसादम्**—भगवत्कृपा को; **अधिगच्छति**—प्राप्त करता है।

किन्तु समस्त राग तथा द्वेष से मुक्त एवं अपनी इन्द्रियों को संयम द्वारा वश में करने में समर्थ व्यक्ति भगवान् की पूर्ण कृपा प्राप्त कर सकता है।

तात्पर्य : यह पहले ही बताया जा चुका है कि कृत्रिम विधि से इन्द्रियों पर बाह्यरूप से नियन्त्रण किया जा सकता है, किन्तु जब तक इन्द्रियाँ भगवान् की दिव्य सेवा में नहीं लगाई जातीं तब तक नीचे गिरने की सम्भावना बनी रहती है। यद्यपि पूर्णतया कृष्णभावनाभावित व्यक्ति ऊपर से विषयी-स्तर पर क्यों न दिखे, किन्तु कृष्णभावनाभावित होने से वह विषय-कर्मों में आसक्त नहीं होता। उसका एकमात्र उद्देश्य तो कृष्ण को प्रसन्न करना रहता है, अन्य कुछ नहीं। अतः वह समस्त आसक्ति तथा विरक्ति से मुक्त होता है। कृष्ण की इच्छा होने पर भक्त सामान्यतया अवांछित कार्य भी कर सकता है, किन्तु यदि कृष्ण की इच्छा नहीं है तो वह उस कार्य को भी नहीं करेगा जिसे वह सामान्य रूप से अपने लिए करता हो। अतः कर्म करना या न करना उसके वश में रहता है क्योंकि वह केवल कृष्ण के निर्देश के अनुसार ही कार्य करता है। यही चेतना भगवान् की अहैतुकी कृपा है, जिसकी प्राप्ति भक्त को इन्द्रियों में आसक्त होते हुए भी हो सकती है।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥ ६५॥

प्रसादे—भगवान् की अहैतुकी कृपा प्राप्त होने पर; **सर्व**—सभी; **दुःखानाम्**—भौतिक दुखों का; **हानिः**—क्षय, नाश; **अस्य**—उसके; **उपजायते**—होता है; **प्रसन्न-चेतसः**—प्रसन्नचित्त वाले की; **हि**—निश्चय ही; **आशु**—तुरन्त; **बुद्धिः**—बुद्धि; **परि**—पर्याप्त; **अवतिष्ठते**—स्थिर हो जाती है।

इस प्रकार से कृष्णभावनामृत में तुष्ट व्यक्ति के लिए संसार के तीनों ताप नष्ट हो जाते हैं और ऐसी तुष्ट चेतना होने पर उसकी बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥ ६६॥

न अस्ति—नहीं हो सकती; **बुद्धिः**—दिव्य बुद्धि; **अयुक्तस्य**—कृष्णभावना से सम्बन्धित न रहने वाले

में; **न**—नहीं; **च**—तथा; **अयुक्तस्य**—कृष्णभावना से शून्य पुरुष का; **भावना**—स्थिर चित्त (सुख में); **न**—नहीं; **च**—तथा; **अभावयतः**—जो स्थिर नहीं है उसके; **शान्तिः**—शान्ति; **अशान्तस्य**—अशान्त का; **कुतः**—कहाँ है; **सुखम्**—सुख।

जो कृष्णभावनामृत में परमेश्वर से सम्बन्धित नहीं है उसकी न तो बुद्धि दिव्य होती है और न ही मन स्थिर होता है जिसके बिना शान्ति की कोई सम्भावना नहीं है। शान्ति के बिना सुख हो भी कैसे सकता है?

तात्पर्य : कृष्णभावनाभावित हुए बिना शान्ति की कोई सम्भावना नहीं हो सकती। अतः पाँचवें अध्याय में (५.२९) इसकी पुष्टि की गई है कि जब मनुष्य यह समझ लेता है कि कृष्ण ही यज्ञ तथा तपस्या के उत्तम फलों के एकमात्र भोक्ता हैं और समस्त ब्रह्माण्ड के स्वामी हैं तथा वे समस्त जीवों के असली मित्र हैं तभी उसे वास्तविक शान्ति मिल सकती है। अतः यदि कोई कृष्णभावनाभावित नहीं है तो उसके मन का कोई अन्तिम लक्ष्य नहीं हो सकता। मन की चंचलता का एकमात्र कारण अन्तिम लक्ष्य का अभाव है। जब मनुष्य को यह पता चल जाता है कि कृष्ण ही भोक्ता, स्वामी तथा सबके मित्र हैं, तो स्थिर चित्त होकर शान्ति का अनुभव किया जा सकता है। अतएव जो कृष्ण से सम्बन्ध न रखकर कार्य में लगा रहता है, वह निश्चय ही सदा दुखी और अशान्त रहेगा, भले ही वह जीवन में शान्ति तथा आध्यात्मिक उन्नति का कितना ही दिखावा क्यों न करे। कृष्णभावनामृत स्वयं प्रकट होने वाली शान्तिमयी अवस्था है, जिसकी प्राप्ति कृष्ण के सम्बन्ध से ही हो सकती है।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥ ६७॥

इन्द्रियाणाम्—इन्द्रियों के; **हि**—निश्चय ही; **चरताम्**—विचरण करते हुए; **यत्**—जिसके साथ; **मनः**—मन; **अनुविधीयते**—निरन्तर लगा रहता है; **तत्**—वह; **अस्य**—इसकी; **हरति**—हर लेती है; **प्रज्ञाम्**—बुद्धि को; **वायुः**—वायु; **नावम्**—नाव को; **इव**—जैसे; **अम्भसि**—जल में।

जिस प्रकार पानी में तैरती नाव को प्रचण्ड वायु दूर बहा ले जाती है उसी प्रकार विचरणशील इन्द्रियों में से कोई एक जिस पर मन निरन्तर लगा रहता है, मनुष्य की बुद्धि को हर लेती है।

तात्पर्य : यदि समस्त इन्द्रियाँ भगवान् की सेवा में न लगी रहें और यदि इनमें से एक भी अपनी तृप्ति में लगी रहती है, तो वह भक्त को दिव्य प्रगति-पथ से विपथ कर सकती है। जैसा कि महाराज अम्बरीष के जीवन में बताया गया है, समस्त इन्द्रियों को कृष्णभावनामृत में लगा रहना चाहिए क्योंकि मन को वश में करने की यही सही एवं सरल विधि है।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ६८॥

तस्मात्—अतः; **यस्य**—जिसकी; **महा-बाहो**—हे महाबाहु; **निगृहीतानि**—इस तरह वशीभूत; **सर्वशः**—सब प्रकार से; **इन्द्रियाणि**—इन्द्रियाँ; **इन्द्रिय-अर्थेभ्यः**—इन्द्रियविषयों से; **तस्य**—उसकी; **प्रज्ञा**—बुद्धि; **प्रतिष्ठिता**—स्थिर।

अतः हे महाबाहु! जिस पुरुष की इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों से सब प्रकार से विरत होकर उसके वश में हैं, उसी की बुद्धि निस्सन्देह स्थिर है।

तात्पर्य : कृष्णभावनामृत के द्वारा या सारी इन्द्रियों को भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगाकर इन्द्रियतृप्ति की बलवती शक्तियों को दमित किया जा सकता है। जिस प्रकार शत्रुओं का दमन श्रेष्ठ सेना द्वारा किया जाता है उसी प्रकार इन्द्रियों का दमन किसी मानवीय प्रयास के द्वारा नहीं, अपितु उन्हें भगवान् की सेवा में लगाये रखकर किया जा सकता है। जो व्यक्ति यह हृदयंगम कर लेता है कि कृष्णभावनामृत के द्वारा बुद्धि स्थिर होती है और इस कला का अभ्यास प्रामाणिक गुरु के पथ-प्रदर्शन में करता है, वह *साधक* अथवा मोक्ष का अधिकारी कहलाता है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ६९ ॥

या—जो; **निशा**—रात्रि है; **सर्व**—समस्त; **भूतानाम्**—जीवों की; **तस्याम्**—उसमें; **जागर्ति**—जागता रहता है; **संयमी**—आत्मसंयमी व्यक्ति; **यस्याम्**—जिसमें; **जाग्रति**—जागते हैं; **भूतानि**—सभी प्राणी; **सा**—वह; **निशा**—रात्रि; **पश्यतः**—आत्मनिरीक्षण करने वाले; **मुनेः**—मुनि के लिए।

जो सब जीवों के लिए रात्रि है, वह आत्मसंयमी के जागने का समय है और जो समस्त जीवों के जागने का समय है वह आत्मनिरीक्षक मुनि के लिए रात्रि है।

तात्पर्य : बुद्धिमान् मनुष्यों की दो श्रेणियाँ हैं। एक श्रेणी के मनुष्य इन्द्रियतृप्ति के लिए भौतिक कार्य करने में निपुण होते हैं और दूसरी श्रेणी के मनुष्य आत्मनिरीक्षक हैं, जो आत्म-साक्षात्कार के अनुशीलन के लिए जागते हैं। विचारवान पुरुषों या आत्मनिरीक्षक मुनि के कार्य भौतिकता में लीन पुरुषों के लिए रात्रि के समान हैं। भौतिकतावादी व्यक्ति ऐसी रात्रि में अनभिज्ञता के कारण आत्म-साक्षात्कार के प्रति सोये रहते हैं। आत्मनिरीक्षक मुनि भौतिकतावादी पुरुषों की रात्रि में जागे रहते हैं। मुनि को आध्यात्मिक अनुशीलन की क्रमिक उन्नति में दिव्य आनन्द का अनुभव होता है, किन्तु भौतिकतावादी कार्यों में लगा व्यक्ति, आत्म-साक्षात्कार के प्रति सोया रहकर अनेक प्रकार के इन्द्रियसुखों का स्वप्न देखता है और उसी सुप्तावस्था में कभी सुख तो कभी दुख का अनुभव करता है। आत्मनिरीक्षक मनुष्य भौतिक सुख तथा दुख के प्रति अन्यमनस्क रहता है। वह भौतिक घातों से अविचलित रहकर आत्म-साक्षात्कार के कार्यों में लगा रहता है।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।

तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥ ७०॥

आपूर्यमाणम्—नित्य परिपूर्ण; **अचल-प्रतिष्ठम्**—दृढ़तापूर्वक स्थित; **समुद्रम्**—समुद्र में; **आपः**—नदियाँ; **प्रविशन्ति**—प्रवेश करती हैं; **यद्वत्**—जिस प्रकार; **तद्वत्**—उसी प्रकार; **कामाः**—इच्छाएँ; **यम्**—जिसमें; **प्रविशन्ति**—प्रवेश करती हैं; **सर्वे**—सभी; **सः**—वह व्यक्ति; **शान्तिम्**—शान्ति; **आप्नोति**—प्राप्त करता है; **न**—नहीं; **काम-कामी**—इच्छाओं को पूरा करने का इच्छुक।

जो पुरुष समुद्र में निरन्तर प्रवेश करती रहने वाली नदियों के समान इच्छाओं के निरन्तर प्रवाह से विचलित नहीं होता और जो सदैव स्थिर रहता है, वही शान्ति प्राप्त कर सकता है, वह नहीं, जो ऐसी इच्छाओं को तुष्ट करने की चेष्टा करता हो।

तात्पर्य : यद्यपि विशाल सागर में सदैव जल रहता है, किन्तु, वर्षा ऋतु में विशेषतया यह अधिकाधिक जल से भरता जाता है तो भी सागर उतने पर ही स्थिर रहता है। न तो वह विक्षुब्ध होता है और न तट की सीमा का उल्लंघन करता है। यही स्थिति कृष्णभावनाभावित व्यक्ति की है। जब तक मनुष्य शरीर है, तब तक इन्द्रियतृप्ति के लिए शरीर की माँगें बनी रहेंगी। किन्तु भक्त अपनी पूर्णता के कारण ऐसी इच्छाओं से विचलित नहीं होता। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति को किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि भगवान् उसकी सारी आवश्यकताएँ पूरी करते रहते हैं। अतः वह सागर के तुल्य होता है—अपने में सदैव पूर्ण। सागर में गिरने वाली नदियों के समान इच्छाएँ उसके पास आ सकती हैं, किन्तु वह अपने कार्य में स्थिर रहता है और इन्द्रियतृप्ति की इच्छा से रंचभर भी विचलित नहीं होता। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति का यही प्रमाण है—इच्छाओं के होते हुए भी वह कभी इन्द्रियतृप्ति के लिए उन्मुख नहीं होता। चूँकि वह भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में तुष्ट रहता है, अतः वह समुद्र की भाँति स्थिर रहकर पूर्ण शान्ति का आनन्द उठा सकता है। किन्तु दूसरे लोग, जो मुक्ति की सीमा तक इच्छाओं की पूर्ति करना चाहते हैं, फिर भौतिक सफलताओं का क्या कहना—उन्हें कभी शान्ति नहीं मिल पाती। कर्मी, मुमुक्षु तथा वे *योगी*—सिद्धि के कामी हैं, ये सभी अपूर्ण इच्छाओं के कारण दुखी रहते हैं। किन्तु कृष्णभावनाभावित पुरुष भगवत्सेवा में सुखी रहता है और उसकी कोई इच्छा नहीं होती। वस्तुतः वह तो तथाकथित भवबन्धन से मोक्ष की भी कामना नहीं करता। कृष्ण के भक्तों की कोई भौतिक इच्छा नहीं रहती, इसलिए वे पूर्ण शान्त रहते हैं।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥ ७१॥

विहाय—छोड़कर; **कामान्**—इन्द्रियतृप्ति की भौतिक इच्छाएँ; **यः**—जो; **सर्वान्**—समस्त; **पुमान्**—पुरुष; **चरति**—रहता है; **निःस्पृहः**—इच्छारहित; **निर्ममः**—ममतारहित; **निरहङ्कारः**—अहंकारशून्य; **सः**—वह; **शान्तिम्**—पूर्ण शान्ति को; **अधिगच्छति**—प्राप्त होता है।

जिस व्यक्ति ने इन्द्रियतृप्ति की समस्त इच्छाओं का परित्याग कर दिया है, जो इच्छाओं से रहित रहता है और जिसने सारी ममता त्याग दी है तथा अहंकार से रहित है, वही वास्तविक शान्ति को प्राप्त कर सकता है।

तात्पर्य : *निस्पृह* होने का अर्थ है—इन्द्रियतृप्ति के लिए कुछ भी इच्छा न करना। दूसरे शब्दों में, कृष्णभावनाभावित होने की इच्छा वास्तव में इच्छाशून्यता या निस्पृहता है। इस शरीर को मिथ्या ही आत्मा माने बिना तथा संसार की किसी वस्तु में कल्पित स्वामित्व रखे बिना श्रीकृष्ण के नित्य दास के रूप में अपनी यथार्थ स्थिति को जान लेना कृष्णभावनामृत की सिद्ध अवस्था है। जो इस सिद्ध अवस्था में स्थित है वह जानता है कि श्रीकृष्ण ही प्रत्येक वस्तु के स्वामी हैं, अतः प्रत्येक वस्तु का उपयोग उनकी तुष्टि के लिए किया जाना चाहिए। अर्जुन आत्म-तुष्टि के लिए युद्ध नहीं करना चाहता था, किन्तु जब वह पूर्ण रूप से कृष्णभावनाभावित हो गया तो उसने युद्ध किया, क्योंकि कृष्ण चाहते थे कि वह युद्ध करे। उसे अपने लिए युद्ध करने की कोई इच्छा न थी, किन्तु वही अर्जुन कृष्ण के लिए अपनी शक्ति भर लड़ा। वास्तविक इच्छाशून्यता कृष्ण-तुष्टि के लिए इच्छा है, यह इच्छाओं को नष्ट करने का कोई कृत्रिम प्रयास नहीं है। जीव कभी भी इच्छाशून्य या इन्द्रियशून्य नहीं हो सकता, किन्तु उसे अपनी इच्छाओं की गुणवत्ता बदलनी होती है। भौतिक दृष्टि से इच्छाशून्य व्यक्ति जानता है कि प्रत्येक वस्तु कृष्ण की है (*ईशावास्यमिदं सर्वम्*), अतः वह किसी वस्तु पर अपना स्वामित्व घोषित नहीं करता। यह दिव्य ज्ञान आत्म-साक्षात्कार पर आधारित है—अर्थात् इस ज्ञान पर कि प्रत्येक जीव कृष्ण का अंश-स्वरूप है और जीव की शाश्वत स्थिति कभी न तो कृष्ण के तुल्य होती है न उनसे बढ़कर। इस प्रकार कृष्णभावनामृत का यह ज्ञान ही वास्तविक शान्ति का मूल सिद्धान्त है।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥ ७२॥

एषा—यह; **ब्राह्मी**—आध्यात्मिक; **स्थितिः**—स्थिति; **पार्थ**—हे पृथापुत्र; **न**—कभी नहीं; **एनाम्**—इसको; **प्राप्य**—प्राप्त करके; **विमुह्यति**—मोहित होता है; **स्थित्वा**—स्थित होकर; **अस्याम्**—इसमें; **अन्त-काले**—जीवन के अन्तिम समय में; **अपि**—भी; **ब्रह्म-निर्वाणम्**—भगवद्धाम को; **ऋच्छति**—प्राप्त होता है।

यह आध्यात्मिक तथा ईश्वरीय जीवन का पथ है, जिसे प्राप्त करके मनुष्य मोहित नहीं होता। यदि कोई जीवन के अन्तिम समय में भी इस तरह स्थित हो, तो वह भगवद्धाम में प्रवेश कर सकता है।

तात्पर्य : मनुष्य कृष्णभावनामृत या दिव्य जीवन को एक क्षण में प्राप्त कर सकता है और हो सकता है कि उसे लाखों जन्मों के बाद भी न प्राप्त हो। यह तो सत्य को समझने और स्वीकार करने की बात है। खट्वांग महाराज ने अपनी मृत्यु के कुछ मिनट पूर्व कृष्ण के शरणागत होकर ऐसी जीवन अवस्था प्राप्त कर ली। *निर्वाण* का अर्थ है—

भौतिकतावादी जीवन शैली का अन्त। बौद्ध दर्शन के अनुसार इस भौतिक जीवन के पूरा होने पर केवल शून्य शेष रहता है, किन्तु *भगवद्गीता* की शिक्षा इससे भिन्न है। वास्तविक जीवन का शुभारम्भ इस भौतिक जीवन के पूरा होने पर होता है। स्थूल भौतिकतावादी के लिए यह जानना पर्याप्त होगा कि इस भौतिक जीवन का अन्त निश्चित है, किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत व्यक्तियों के लिए इस जीवन के बाद अन्य जीवन प्रारम्भ होता है। इस जीवन का अन्त होने के पूर्व यदि कोई कृष्णभावनाभावित हो जाय तो उसे तुरन्त *ब्रह्म-निर्वाण* अवस्था प्राप्त हो जाती है। भगवद्धाम तथा भगवद्भक्ति के बीच कोई अन्तर नहीं है। चूँकि दोनों चरम पद हैं, अतः भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में व्यस्त रहने का अर्थ है—भगवद्धाम को प्राप्त करना। भौतिक जगत् में इन्द्रियतृप्ति विषयक कार्य होते हैं और आध्यात्मिक जगत् में कृष्णभावनामृत विषयक। इसी जीवन में ही कृष्णभावनामृत की प्राप्ति तत्काल ब्रह्मप्राप्ति जैसी है और जो कृष्णभावनामृत में स्थित होता है, वह निश्चित रूप से पहले ही भगवद्धाम में प्रवेश कर चुका होता है।

ब्रह्म और भौतिक पदार्थ एक दूसरे से सर्वथा विपरीत हैं। अतः *ब्राह्मी-स्थिति* का अर्थ है, "भौतिक कार्यों के पद पर न होना।" *भगवद्गीता* में भगवद्भक्ति को मुक्त अवस्था माना गया है (*स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते*)। अतः *ब्राह्मी-स्थिति* भौतिक बन्धन से मुक्ति है।

श्रील भक्ति विनोद ठाकुर ने *भगवद्गीता* के इस द्वितीय अध्याय को सम्पूर्ण ग्रंथ के प्रतिपाद्य विषय के रूप में संक्षिप्त किया है। *भगवद्गीता* के प्रतिपाद्य हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग। इस द्वितीय अध्याय में कर्मयोग तथा ज्ञानयोग की स्पष्ट व्याख्या हुई है एवं भक्तियोग की भी झाँकी दे दी गई है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता *के द्वितीय अध्याय "गीता का सार" का भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुआ।*

अध्याय तीन

कर्मयोग

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥१॥

अर्जुनः उवाच—अर्जुन ने कहा; **ज्यायसी**—श्रेष्ठ; **चेत्**—यदि; **कर्मणः**—सकाम कर्म की अपेक्षा; **ते**—तुम्हारे द्वारा; **मता**—मानी जाती है; **बुद्धिः**—बुद्धि; **जनार्दन**—हे कृष्ण; **तत्**—अतः; **किम्**—क्यों, फिर; **कर्मणि**—कर्म में; **घोरे**—भयंकर, हिंसात्मक; **माम्**—मुझको; **नियोजयसि**—नियुक्त करते हो; **केशव**—हे कृष्ण।

अर्जुन ने कहा—हे जनार्दन, हे केशव! यदि आप बुद्धि को सकाम कर्म से श्रेष्ठ समझते हैं तो फिर आप मुझे इस घोर युद्ध में क्यों लगाना चाहते हैं?

तात्पर्य : श्रीभगवान् कृष्ण ने पिछले अध्याय में अपने घनिष्ठ मित्र अर्जुन को संसार के शोक-सागर से उबारने के उद्देश्य से आत्मा के स्वरूप का विशद् वर्णन किया है और आत्म-साक्षात्कार के जिस मार्ग की संस्तुति की है वह है—बुद्धियोग या कृष्णभावनामृत। कभी-कभी कृष्णभावनामृत को भूल से जड़ता समझ लिया जाता है और ऐसी भ्रान्त

धारणा वाला मनुष्य भगवान् कृष्ण के नाम-जप द्वारा पूर्णतया कृष्णभावनाभावित होने के लिए प्रायः एकान्त स्थान में चला जाता है। किन्तु कृष्णभावनामृत-दर्शन में प्रशिक्षित हुए बिना एकान्त स्थान में कृष्ण नाम-जप करना ठीक नहीं। इससे अबोध जनता से केवल सस्ती प्रशंसा प्राप्त हो सकेगी। अर्जुन को भी कृष्णभावनामृत या बुद्धियोग ऐसा लगा मानो वह सक्रिय जीवन से संन्यास लेकर एकान्त स्थान में तपस्या का अभ्यास हो। दूसरे शब्दों में, वह कृष्णभावनामृत को बहाना बनाकर चातुरीपूर्वक युद्ध से जी छुड़ाना चाहता था। किन्तु एकनिष्ठ शिष्य होने के नाते उसने यह बात अपने गुरु के समक्ष रखी और कृष्ण से सर्वोत्तम कार्य-विधि के विषय में प्रश्न किया। उत्तर में भगवान् ने तृतीय अध्याय में कर्मयोग अर्थात् कृष्णभावनाभावित कर्म की विस्तृत व्याख्या की।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥ २॥

व्यामिश्रेण—अनेकार्थक; **इव**—मानो; **वाक्येन**—शब्दों से; **बुद्धिम्**—बुद्धि; **मोहयसि**—मोह रहे हो; **इव**—मानो; **मे**—मेरी; **तत्**—अतः; **एकम्**—एकमात्र; **वद**—कहिये; **निश्चित्य**—निश्चय करके; **येन**—जिससे; **श्रेयः**—वास्तविक लाभ; **अहम्**—मैं; **आप्नुयाम्**—पा सकूँ।

आपके व्यामिश्रित (अनेकार्थक) उपदेशों से मेरी बुद्धि मोहित हो गई है। अतः कृपा करके निश्चयपूर्वक मुझे बतायें कि इनमें से मेरे लिए सर्वाधिक श्रेयस्कर क्या होगा?

तात्पर्य : पिछले अध्याय में, *भगवद्गीता* के उपक्रम के रूप में सांख्ययोग, बुद्धियोग, बुद्धि द्वारा इन्द्रियनिग्रह, निष्काम कर्मयोग तथा नवदीक्षित की स्थिति जैसे विभिन्न मार्गों का वर्णन किया गया है। किन्तु उसमें तारतम्य नहीं था। कर्म करने तथा समझने के लिए मार्ग की अधिक व्यवस्थित रूपरेखा की आवश्यकता होगी। अतः अर्जुन इन भ्रामक विषयों को स्पष्ट कर लेना चाहता था, जिससे सामान्य मनुष्य बिना किसी भ्रम के उन्हें स्वीकार कर सके। यद्यपि श्रीकृष्ण वाक्चातुरी से अर्जुन को चकराना नहीं चाहते थे, किन्तु अर्जुन यह नहीं समझ सका कि कृष्णभावनामृत क्या है—जड़ता है या कि सक्रिय सेवा। दूसरे शब्दों में, अपने प्रश्नों से वह उन समस्त शिष्यों के लिए जो *भगवद्गीता* के रहस्य को समझना चाहते हैं, कृष्णभावनामृत का मार्ग प्रशस्त कर रहा है।

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ ३॥

श्री-भगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; **लोके**—संसार में; **अस्मिन्**—इस; **द्वि-विधा**—दो प्रकार की; **निष्ठा**—श्रद्धा; **पुरा**—पहले; **प्रोक्ता**—कही गई; **मया**—मेरे द्वारा; **अनघ**—हे निष्पाप; **ज्ञान-योगेन**—ज्ञानयोग के द्वारा; **सांख्यानाम्**—ज्ञानियों का; **कर्म-योगेन**—भक्तियोग के द्वारा; **योगिनाम्**—भक्तों का।

श्रीभगवान् ने कहा—हे निष्पाप अर्जुन! मैं पहले ही बता चुका हूँ कि आत्म-साक्षात्कार का प्रयत्न करने वाले दो प्रकार के पुरुष होते हैं। कुछ इसे ज्ञानयोग

द्वारा समझने का प्रयत्न करते हैं, तो कुछ भक्ति-मय सेवा के द्वारा।

तात्पर्य : द्वितीय अध्याय के उन्तालीसवें श्लोक में भगवान् ने दो प्रकार की पद्धतियों का उल्लेख किया है—सांख्ययोग तथा कर्मयोग या बुद्धियोग। इस श्लोक में इनकी और अधिक स्पष्ट विवेचना की गई है। सांख्ययोग अथवा आत्मा तथा पदार्थ की प्रकृति का वैश्लेषिक अध्ययन उन लोगों के लिए है जो व्यावहारिक ज्ञान तथा दर्शन द्वारा वस्तुओं का चिन्तन एवं मनन करना चाहते हैं। दूसरे प्रकार के लोग कृष्णभावनामृत में कार्य करते हैं जैसा कि द्वितीय अध्याय के इकसठवें श्लोक में बताया गया है। उन्तालीसवें श्लोक में भी भगवान् ने बताया है कि बुद्धियोग या कृष्णभावनामृत के सिद्धान्तों पर चलते हुए मनुष्य कर्म के बन्धनों से छूट सकता है तथा इस पद्धति में कोई दोष नहीं है। इकसठवें श्लोक में इसी सिद्धान्त को और अधिक स्पष्ट किया गया है—कि बुद्धियोग पूर्णतया परब्रह्म (विशेषतया कृष्ण) पर आश्रित है और इस प्रकार से समस्त इन्द्रियों को सरलता से वश में किया जा सकता है। अतः दोनों प्रकार के योग धर्म तथा दर्शन के रूप में अन्योन्याश्रित हैं। दर्शनविहीन धर्म मात्र भावुकता या कभी-कभी धर्मान्धता है और धर्मविहीन दर्शन मानसिक ऊहापोह है। अन्तिम लक्ष्य तो श्रीकृष्ण हैं क्योंकि जो दार्शनिकजन परम सत्य की खोज करते रहते हैं, वे अन्ततः कृष्णभावनामृत को प्राप्त होते हैं। इसका भी उल्लेख *भगवद्गीता* में मिलता है। सम्पूर्ण पद्धति का उद्देश्य परमात्मा के सम्बन्ध में अपनी वास्तविक स्थिति को समझ लेना है। इसकी अप्रत्यक्ष पद्धति दार्शनिक चिन्तन है, जिसके द्वारा क्रम से कृष्णभावनामृत तक पहुँचा जा सकता है। प्रत्यक्ष पद्धति में कृष्णभावनामृत में ही प्रत्येक वस्तु से अपना सम्बन्ध जोड़ना होता है। इन दोनों में से कृष्णभावनामृत का मार्ग श्रेष्ठ है क्योंकि इसमें दार्शनिक पद्धति द्वारा इन्द्रियों को विमल नहीं करना होता। कृष्णभावनामृत स्वयं ही शुद्ध करने वाली प्रक्रिया है और भक्ति की प्रत्यक्ष विधि सरल तथा दिव्य होती है।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ ४॥

न—नहीं; **कर्मणाम्**—नियत कर्मों के; **अनारम्भात्**—न करने से; **नैष्कर्म्यम्**—कर्मबन्धन से मुक्ति को; **पुरुषः**—मनुष्य; **अश्नुते**—प्राप्त करता है; **न**—नहीं; **च**—भी; **संन्यसनात्**—त्याग से; **एव**—केवल; **सिद्धिम्**—सफलता; **समधिगच्छति**—प्राप्त करता है।

न तो कर्म से विमुख होकर कोई कर्मफल से छुटकारा पा सकता है और न केवल संन्यास से सिद्धि प्राप्त की जा सकती है।

तात्पर्य : भौतिकतावादी मनुष्यों के हृदयों को विमल करने के लिए जिन कर्मों का विधान किया गया है उनके द्वारा शुद्ध हुआ मनुष्य ही संन्यास ग्रहण कर सकता है। शुद्धि के बिना अनायास संन्यास ग्रहण करने से सफलता नहीं मिल पाती। ज्ञानयोगियों के अनुसार संन्यास ग्रहण करने अथवा सकाम कर्म से विरत होने से ही मनुष्य नारायण के समान हो जाता है। किन्तु भगवान् कृष्ण इस मत का अनुमोदन नहीं करते। हृदय की शुद्धि के बिना संन्यास सामाजिक व्यवस्था में उत्पात उत्पन्न करता है। दूसरी ओर यदि कोई

नियत कर्मों को न करके भी भगवान् की दिव्य सेवा करता है तो वह उस मार्ग में जो कुछ भी उन्नति करता है उसे भगवान् स्वीकार कर लेते हैं (बुद्धियोग)। *स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।* ऐसे सिद्धान्त की रंचमात्र सम्पन्नता भी महान कठिनाइयों को पार करने में सहायक होती है।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ ५॥

न—नहीं; **हि**—निश्चय ही; **कश्चित्**—कोई; **क्षणम्**—क्षणमात्र; **अपि**—भी; **जातु**—किसी काल में; **तिष्ठति**—रहता है; **अकर्म-कृत्**—बिना कुछ किये; **कार्यते**—करने के लिए बाध्य होता है; **हि**—निश्चय ही; **अवशः**—विवश होकर; **कर्म**—कर्म; **सर्वः**—समस्त; **प्रकृति-जैः**—प्रकृति के गुणों से उत्पन्न; **गुणैः**—गुणों के द्वारा।

प्रत्येक व्यक्ति को प्रकृति से अर्जित गुणों के अनुसार विवश होकर कर्म करना पड़ता है, अतः कोई भी एक क्षणभर के लिए भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता।

तात्पर्य : यह देहधारी जीवन का प्रश्न नहीं है, अपितु आत्मा का यह स्वभाव है कि वह सदैव सक्रिय रहता है। आत्मा की अनुपस्थिति में भौतिक शरीर हिल भी नहीं सकता। यह शरीर मृत-वाहन के समान है जो आत्मा द्वारा चालित होता है क्योंकि आत्मा सदैव गतिशील (सक्रिय) रहता है और वह एक क्षण के लिए भी नहीं रुक सकता। अतः आत्मा को कृष्णभावनामृत के सत्कर्म में प्रवृत्त रखना चाहिए अन्यथा वह माया द्वारा शासित कार्यों में प्रवृत्त होता रहेगा। माया के संसर्ग में आकर आत्मा भौतिक गुण प्राप्त कर लेता है और आत्मा को ऐसे आकर्षणों से शुद्ध करने के लिए यह आवश्यक है कि शास्त्रों द्वारा आदिष्ट कर्मों में इसे संलग्न रखा जाय। किन्तु यदि आत्मा कृष्णभावनामृत के अपने स्वाभाविक कर्म में निरत रहता है, तो वह जो भी करता है उसके लिए कल्याणप्रद होता है। *श्रीमद्भागवत* (१.५.१७) द्वारा इसकी पुष्टि हुई है—

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।
यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः॥

"यदि कोई कृष्णभावनामृत अंगीकार कर लेता है तो भले ही वह शास्त्रानुमोदित कर्मों को न करे अथवा ठीक से भक्ति न करे और चाहे वह पतित भी हो जाय तो इसमें उसकी हानि या बुराई नहीं होगी। किन्तु यदि वह शास्त्रानुमोदित सारे कार्य करे और कृष्णभावनाभावित न हो तो ये सारे कार्य उसके किस लाभ के हैं?" अतः कृष्णभावनामृत के इस स्तर तक पहुँचने के लिए शुद्धिकरण की प्रक्रिया आवश्यक है। अतएव संन्यास या कोई भी शुद्धिकारी पद्धति कृष्णभावनामृत के चरम लक्ष्य तक पहुँचने में सहायता देने के लिए है, क्योंकि उसके बिना सब कुछ व्यर्थ है।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥ ६॥

कर्म-इन्द्रियाणि—पाँचों कर्मेन्द्रियों को; **संयम्य**—वश में करके; **यः**—जो; **आस्ते**—रहता है;

मनसा—मन से; **स्मरन्**—सोचता हुआ; **इन्द्रिय-अर्थान्**—इन्द्रियविषयों को; **विमूढ**—मूर्ख; **आत्मा**—जीव; **मिथ्या-आचारः**—दम्भी; **सः**—वह; **उच्यते**—कहलाता है।

जो कर्मेन्द्रियों को वश में तो करता है, किन्तु जिसका मन इन्द्रियविषयों का चिन्तन करता रहता है, वह निश्चित रूप से स्वयं को धोखा देता है और मिथ्याचारी कहलाता है।

तात्पर्य : ऐसे अनेक मिथ्याचारी व्यक्ति होते हैं जो कृष्णभावनामृत में कार्य तो नहीं करते, किन्तु ध्यान का दिखावा करते हैं, जबकि वास्तव में वे मन में इन्द्रियभोग का चिन्तन करते रहते हैं। ऐसे लोग अपने अबोध शिष्यों को बहकाने के लिए शुष्क दर्शन के विषय में भी व्याख्यान दे सकते हैं, किन्तु इस श्लोक के अनुसार वे सबसे बड़े धूर्त हैं। इन्द्रियसुख के लिए किसी भी आश्रम में रहकर कर्म किया जा सकता है, किन्तु यदि उस विशिष्ट पद का उपयोग विधिविधानों के पालन में किया जाय तो व्यक्ति की क्रमशः आत्मशुद्धि हो सकती है। किन्तु जो अपने को योगी बताते हुए इन्द्रियतृप्ति के विषयों की खोज में लगा रहता है, वह सबसे बड़ा धूर्त है, भले ही वह कभी-कभी दर्शन का उपदेश क्यों न दे। उसका ज्ञान व्यर्थ है क्योंकि ऐसे पापी पुरुष के ज्ञान के सारे फल भगवान् की माया द्वारा हर लिये जाते हैं। ऐसे धूर्त का चित्त सदैव अशुद्ध रहता है, अतएव उसके यौगिक ध्यान का कोई अर्थ नहीं होता।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥ ७॥

यः—जो; **तु**—लेकिन; **इन्द्रियाणि**—इन्द्रियों को; **मनसा**—मन के द्वारा; **नियम्य**—वश में करके; **आरभते**—प्रारम्भ करता है; **अर्जुन**—हे अर्जुन; **कर्म-इन्द्रियैः**—कर्मेन्द्रियों से; **कर्म-योगम्**—भक्ति; **असक्तः**—अनासक्त; **सः**—वह; **विशिष्यते**—श्रेष्ठ है।

दूसरी ओर यदि कोई निष्ठावान व्यक्ति अपने मन के द्वारा कर्मेन्द्रियों को वश में करने का प्रयत्न करता है और बिना किसी आसक्ति के कर्मयोग (कृष्णभावनामृत में) प्रारम्भ करता है, तो वह अति उत्कृष्ट है।

तात्पर्य : लम्पट जीवन और इन्द्रियसुख के लिए छद्म योगी का मिथ्या वेष धारण करने की अपेक्षा अपने कर्म में लगे रह कर जीवन-लक्ष्य को, जो भवबन्धन से मुक्त होकर भगवद्धाम को जाना है, प्राप्त करने के लिए कर्म करते रहना अधिक श्रेयस्कर है। प्रमुख स्वार्थ-गति तो विष्णु के पास जाना है। सम्पूर्ण वर्णाश्रम-धर्म का उद्देश्य इसी जीवन-लक्ष्य की प्राप्ति है। एक गृहस्थ भी कृष्णभावनामृत में नियमित सेवा करके इस लक्ष्य तक पहुँच सकता है। आत्म-साक्षात्कार के लिए मनुष्य शास्त्रानुमोदित संयमित जीवन बिता सकता है और अनासक्त भाव से अपना कार्य करता रह सकता है। इस प्रकार वह प्रगति कर सकता है। जो निष्ठावान व्यक्ति इस विधि का पालन करता है वह उस पाखंडी (धूर्त) से कहीं श्रेष्ठ है जो अबोध जनता को ठगने के लिए दिखावटी आध्यात्मिकता का जामा धारण करता है। जीविका के लिए ध्यान धरने वाले प्रवंचक ध्यानी की अपेक्षा

सड़क पर झाड़ू लगाने वाला निष्ठावान व्यक्ति कहीं अच्छा है।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥ ८॥

नियतम्—नियत; **कुरु**—करो; **कर्म**—कर्तव्य; **त्वम्**—तुम; **कर्म**—कर्म करना; **ज्यायः**—श्रेष्ठ; **हि**—निश्चय ही; **अकर्मणः**—काम न करने की अपेक्षा; **शरीर**—शरीर का; **यात्रा**—पालन, निर्वाह; **अपि**—भी; **च**—भी; **ते**—तुम्हारा; **न**—कभी नहीं; **प्रसिद्ध्येत्**—सिद्ध होता; **अकर्मणः**—बिना काम के।

अपना नियत कर्म करो, क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है। कर्म के बिना तो शरीर-निर्वाह भी नहीं हो सकता।

तात्पर्य : ऐसे अनेक छद्म ध्यानी हैं जो अपने आपको उच्चकुलीन बताते हैं तथा ऐसे बड़े-बड़े व्यवसायी व्यक्ति हैं जो झूठा दिखावा करते हैं कि आध्यात्मिक जीवन में प्रगति करने के लिए उन्होंने सर्वस्व त्याग दिया है। श्रीकृष्ण यह नहीं चाहते थे कि अर्जुन मिथ्याचारी बने, अपितु वे चाहते थे कि अर्जुन क्षत्रियों के लिए निर्दिष्ट धर्म का पालन करे। अर्जुन गृहस्थ था और एक सेनानायक था, अतः उसके लिए श्रेयस्कर था कि वह उसी रूप में गृहस्थ क्षत्रिय के लिए निर्दिष्ट धार्मिक कर्तव्यों का पालन करे। ऐसे कार्यों से संसारी मनुष्य का हृदय क्रमशः विमल हो जाता है और वह भौतिक कल्मष से मुक्त हो जाता है। देह-निर्वाह के लिए किये गये तथाकथित त्याग (संन्यास) का अनुमोदन न तो भगवान् करते हैं और न कोई धर्मशास्त्र ही। आखिर देह-निर्वाह के लिए कुछ न कुछ करना होता है। भौतिकतावादी वासनाओं की शुद्धि के बिना कर्म का मनमाने ढंग से त्याग करना ठीक नहीं। इस जगत् का प्रत्येक व्यक्ति निश्चय ही प्रकृति पर प्रभुत्व जताने के लिए अर्थात् इन्द्रियतृप्ति के लिए मलिन प्रवृत्ति से ग्रस्त रहता है। ऐसी दूषित प्रवृत्तियों को शुद्ध करने की आवश्यकता है। नियत कर्मों द्वारा ऐसा किये बिना मनुष्य को चाहिए कि तथाकथित अध्यात्मवादी (योगी) बनने तथा सारा काम छोड़ कर अन्यों पर जीवित रहने का प्रयास न करे।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥ ९॥

यज्ञ-अर्थात्—एकमात्र यज्ञ या विष्णु के लिए किया गया; **कर्मणः**—कर्म की अपेक्षा; **अन्यत्र**—अन्यथा; **लोकः**—संसार; **अयम्**—यह; **कर्म-बन्धनः**—कर्म के कारण बन्धन; **तत्**—उस; **अर्थम्**—के लिए; **कर्म**—कर्म; **कौन्तेय**—हे कुन्तीपुत्र; **मुक्त-सङ्गः**—सङ्ग (फलाकांक्षा) से मुक्त; **समाचर**—भलीभाँति आचरण करो।

श्रीविष्णु के लिए यज्ञ रूप में कर्म करना चाहिए, अन्यथा कर्म के द्वारा इस भौतिक जगत् में बन्धन उत्पन्न होता है। अतः हे कुन्तीपुत्र! उनकी प्रसन्नता के लिए अपने नियत कर्म करो। इस तरह तुम बन्धन से सदा मुक्त रहोगे।

तात्पर्य : चूँकि मनुष्य को शरीर के निर्वाह के लिए भी कर्म करना होता है, अतः विशिष्ट सामाजिक स्थिति तथा गुण को ध्यान में रखकर नियत कर्म इस तरह बनाये गये हैं कि

उस उद्देश्य की पूर्ति हो सके। यज्ञ का अर्थ भगवान् विष्णु है। सारे यज्ञ भगवान् विष्णु की प्रसन्नता के लिए हैं। वेदों का आदेश है—*यज्ञो वै विष्णुः*। दूसरे शब्दों में, चाहे कोई निर्दिष्ट यज्ञ सम्पन्न करे या प्रत्यक्ष रूप से भगवान् विष्णु की सेवा करे, दोनों से एक ही प्रयोजन सिद्ध होता है, अतः जैसा कि इस श्लोक में संस्तुत किया गया है, कृष्णभावनामृत यज्ञ ही है। वर्णाश्रम-धर्म का भी उद्देश्य भगवान् विष्णु को प्रसन्न करना है। *वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्। विष्णुराराध्यते* (*विष्णु पुराण* ३.८.८)।

अतः भगवान् विष्णु की प्रसन्नता के लिए कर्म करना चाहिए। इस जगत् में किया जाने वाला अन्य कोई कर्म बन्धन का कारण होगा, क्योंकि अच्छे तथा बुरे कर्मों के फल होते हैं और कोई भी फल कर्म करने वाले को बाँध लेता है। अतः कृष्ण (विष्णु) को प्रसन्न करने के लिए कृष्णभावनाभावित होना होगा और जब कोई ऐसा कर्म करता है तो वह मुक्त दशा को प्राप्त रहता है। यही महान कर्म कौशल है और प्रारम्भ में इस विधि में अत्यन्त कुशल मार्गदर्शन की आवश्यकता होती है। अतः भगवद्भक्त के निर्देशन में या साक्षात् भगवान् कृष्ण के प्रत्यक्ष आदेश के अन्तर्गत (जिनके अधीन अर्जुन को कर्म करने का अवसर मिला था) मनुष्य को परिश्रमपूर्वक कर्म करना चाहिए। इन्द्रियतृप्ति के लिए कुछ भी नहीं किया जाना चाहिए, अपितु हर कार्य कृष्ण की प्रसन्नता (तुष्टि) के लिए होना चाहिए। इस विधि से न केवल कर्म के बन्धन से बचा जा सकता है, अपितु इससे मनुष्य को क्रमशः भगवान् की वह प्रेमाभक्ति प्राप्त हो सकेगी, जो भगवद्धाम को ले जाने वाली है।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥१०॥

सह—के साथ; **यज्ञाः**—यज्ञों; **प्रजाः**—सन्ततियों; **सृष्ट्वा**—रच कर; **पुरा**—प्राचीन काल में; **उवाच**—कहा; **प्रजापतिः**—जीवों के स्वामी ने; **अनेन**—इससे; **प्रसविष्यध्वम्**—अधिकाधिक समृद्ध होओ; **एषः**—यह; **वः**—तुम्हारा; **अस्तु**—होए; **इष्ट**—समस्त वांछित वस्तुओं का; **काम-धुक्**—प्रदाता।

सृष्टि के प्रारम्भ में समस्त प्राणियों के स्वामी (प्रजापति) ने विष्णु के लिए यज्ञ सहित मनुष्यों तथा देवताओं की सन्ततियों को रचा और उनसे कहा, "तुम इस यज्ञ से सुखी रहो क्योंकि इसके करने से तुम्हें सुखपूर्वक रहने तथा मुक्ति प्राप्त करने के लिए समस्त वांछित वस्तुएँ प्राप्त हो सकेंगी।"

तात्पर्य : प्राणियों के स्वामी (विष्णु) द्वारा भौतिक सृष्टि की रचना बद्धजीवों के लिए भगवद्धाम वापस जाने का सुअवसर है। इस सृष्टि के सारे जीव प्रकृति द्वारा बद्ध हैं क्योंकि उन्होंने श्रीभगवान् विष्णु या कृष्ण के साथ अपने सम्बन्ध को भुला दिया है। इस शाश्वत सम्बन्ध को समझने में वैदिक नियम हमारी सहायता के लिए हैं, जैसा कि *भगवद्गीता* में कहा गया है—*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*। भगवान् का कथन है कि वेदों का उद्देश्य मुझे समझना है। वैदिक स्तुतियों में कहा गया है—*पतिं विश्वस्यात्मेश्वरम्*। अतः जीवों के स्वामी (प्रजापति) श्रीभगवान् विष्णु हैं। *श्रीमद्भागवत* में भी (२.४.२०) श्रील शुकदेव गोस्वामी ने भगवान् को अनेक रूपों में पति कहा है—

श्रियः पतिर्यज्ञपतिः प्रजापतिर्धियां पतिर्लोकपतिर्धरापतिः।
पतिर्गतिश्चान्धकवृष्णिसात्वतां प्रसीदतां मे भगवान् सतां पतिः॥

प्रजापति तो भगवान् विष्णु हैं और वे समस्त प्राणियों के, समस्त लोकों के तथा सुन्दरता के स्वामी (पति) हैं और हर एक के त्राता हैं। भगवान् ने इस भौतिक जगत् को इसलिए रचा कि बद्धजीव यह सीख सकें कि वे विष्णु को प्रसन्न करने के लिए किस प्रकार यज्ञ करें जिससे वे इस जगत् में चिन्तारहित होकर सुखपूर्वक रह सकें तथा इस भौतिक देह का अन्त होने पर भगवद्धाम को जा सकें। बद्धजीव के लिए ही यह सम्पूर्ण कार्यक्रम है। यज्ञ करने से बद्धजीव क्रमशः कृष्णभावनाभावित होते हैं और सभी प्रकार से देवतुल्य बनते हैं। कलियुग में वैदिक शास्त्रों ने संकीर्तन-यज्ञ (भगवान् के नामों का कीर्तन) का विधान किया है और इस दिव्य विधि का प्रवर्तन चैतन्य महाप्रभु द्वारा इस युग के समस्त लोगों के उद्धार के लिए किया गया। संकीर्तन-यज्ञ तथा कृष्णभावनामृत में अच्छा तालमेल है। *श्रीमद्भागवत* (११.५.३२) में संकीर्तन-यज्ञ के विशेष प्रसंग में, भगवान् कृष्ण का अपने भक्तरूप (चैतन्य महाप्रभु रूप) में निम्न प्रकार से उल्लेख हुआ है—

कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं सांगोपांगास्त्रपार्षदम्।
यज्ञैः संकीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः॥

"इस कलियुग में जो लोग पर्याप्त बुद्धिमान हैं वे भगवान् की उनके पार्षदों सहित संकीर्तन-यज्ञ द्वारा पूजा करेंगे।" वेदों में वर्णित अन्य यज्ञों को इस कलिकाल में कर पाना सहज नहीं, किन्तु संकीर्तन-यज्ञ सुगम है और सभी दृष्टि से अलौकिक है, जैसा कि *भगवद्गीता* में भी (९.१४) संस्तुति की गई है।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥११॥

देवान्—देवताओं को; **भावयता**—प्रसन्न करके; **अनेन**—इस यज्ञ से; **ते**—वे; **देवाः**—देवता; **भावयन्तु**—प्रसन्न करेंगे; **वः**—तुमको; **परस्परम्**—आपस में; **भावयन्तः**—एक दूसरे को प्रसन्न करते हुए; **श्रेयः**—वर, मंगल; **परम्**—परम; **अवाप्स्यथ**—तुम प्राप्त करोगे।

यज्ञों के द्वारा प्रसन्न होकर देवता तुम्हें भी प्रसन्न करेंगे और इस तरह मनुष्यों तथा देवताओं के मध्य सहयोग से सबों को सम्पन्नता प्राप्त होगी।

तात्पर्य : देवतागण सांसारिक कार्यों के लिए अधिकारप्राप्त प्रशासक हैं। प्रत्येक जीव द्वारा शरीर धारण करने के लिए आवश्यक वायु, प्रकाश, जल तथा अन्य सारे वर उन देवताओं के अधिकार में हैं, जो भगवान् के शरीर के विभिन्न भागों में असंख्य सहायकों के रूप में स्थित हैं। उनकी प्रसन्नता तथा अप्रसन्नता मनुष्यों द्वारा यज्ञ की सम्पन्नता पर निर्भर है। कुछ यज्ञ किन्हीं विशेष देवताओं को प्रसन्न करने के लिए होते हैं, किन्तु तो भी सारे यज्ञों में भगवान् विष्णु को प्रमुख भोक्ता की भाँति पूजा जाता है। *भगवद्गीता* में यह भी कहा गया है कि भगवान् कृष्ण स्वयं सभी प्रकार के यज्ञों के भोक्ता हैं—*भोक्तारं यज्ञतपसाम्।* अतः समस्त यज्ञों का मुख्य प्रयोजन यज्ञपति को प्रसन्न करना है।

जब ये यज्ञ सुचारु रूप से सम्पन्न किये जाते हैं, तो विभिन्न विभागों के अधिकारी देवता प्रसन्न होते हैं और प्राकृतिक पदार्थों का अभाव नहीं रहता।

यज्ञों को सम्पन्न करने से अन्य लाभ भी होते हैं, जिनसे अन्ततः भवबन्धन से मुक्ति मिल जाती है। यज्ञ से सारे कर्म पवित्र हो जाते हैं, जैसा कि वेदवचन है—*आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रंथीनां विप्रमोक्षः।* यज्ञ से मनुष्य के खाद्यपदार्थ शुद्ध होते हैं और शुद्ध भोजन करने से मनुष्य-जीवन शुद्ध हो जाता है, जीवन शुद्ध होने से स्मृति के सूक्ष्म-तन्तु शुद्ध होते हैं और स्मृति-तन्तुओं के शुद्ध होने पर मनुष्य मुक्तिमार्ग का चिन्तन कर सकता है और ये सब मिलकर कृष्णभावनामृत तक पहुँचाते हैं, जो आज के समाज के लिए सर्वाधिक आवश्यक है।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥१२॥

इष्टान्—वांछित; **भोगान्**—जीवन की आवश्यकताएँ; **हि**—निश्चय ही; **वः**—तुम्हें; **देवाः**—देवतागण; **दास्यन्ते**—प्रदान करेंगे; **यज्ञ-भाविताः**—यज्ञ सम्पन्न करने से प्रसन्न होकर; **तैः**—उनके द्वारा; **दत्तान्**—प्रदत्त वस्तुएँ; **अप्रदाय**—बिना भेंट किये; **एभ्यः**—इन देवताओं को; **यः**—जो; **भुङ्क्ते**—भोग करता है; **स्तेनः**—चोर; **एव**—निश्चय ही; **सः**—वह।

जीवन की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले विभिन्न देवता यज्ञ सम्पन्न होने पर प्रसन्न होकर तुम्हारी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति करेंगे। किन्तु जो इन उपहारों को देवताओं को अर्पित किये बिना भोगता है, वह निश्चित रूप से चोर है।

तात्पर्य : देवतागण भगवान् विष्णु द्वारा भोग-सामग्री प्रदान करने के लिए अधिकृत किये गये हैं। अतः नियत यज्ञों द्वारा उन्हें अवश्य संतुष्ट करना चाहिए। वेदों में विभिन्न देवताओं के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के यज्ञों की संस्तुति है, किन्तु वे सब अन्ततः भगवान् को ही अर्पित किये जाते हैं। किन्तु जो यह नहीं समझ सकता कि भगवान् क्या हैं, उसके लिए देवयज्ञ का विधान है। अनुष्ठानकर्ता के भौतिक गुणों के अनुसार वेदों में विभिन्न प्रकार के यज्ञों का विधान है। विभिन्न देवताओं की पूजा भी उसी आधार पर अर्थात् गुणों के अनुसार की जाती है। उदाहरणार्थ, मांसाहारियों को देवी काली की पूजा करने के लिए कहा जाता है, जो भौतिक प्रकृति की घोर रूपा हैं और देवी के समक्ष पशुबलि का आदेश है। किन्तु जो सतोगुणी हैं उनके लिए विष्णु की दिव्य पूजा बताई जाती है। अन्ततः समस्त यज्ञों का ध्येय उत्तरोत्तर दिव्य-पद प्राप्त करना है। सामान्य व्यक्तियों के लिए कम से कम पाँच यज्ञ आवश्यक हैं, जिन्हें पञ्चमहायज्ञ कहते हैं।

किन्तु मनुष्य को यह जानना चाहिए कि जीवन की सारी आवश्यकताएँ भगवान् के देवता प्रतिनिधियों द्वारा ही पूरी की जाती हैं। कोई कुछ बना नहीं सकता। उदाहरणार्थ, मानव समाज के भोज्य पदार्थों को लें। इन भोज्य पदार्थों में शाकाहारियों के लिए अन्न, फल, शाक, दूध, चीनी आदि हैं तथा मांसाहारियों के लिए मांसादि जिनमें से कोई भी पदार्थ मनुष्य नहीं बना सकता। एक और उदाहरण लें—यथा ऊष्मा, प्रकाश, जल, वायु

आदि जो जीवन के लिए आवश्यक हैं, इनमें से किसी को बनाया नहीं जा सकता। परमेश्वर के बिना न तो प्रचुर प्रकाश मिल सकता है, न चाँदनी, वर्षा या प्रातःकालीन समीर ही, जिनके बिना मनुष्य जीवित नहीं रह सकता। स्पष्ट है कि हमारा जीवन भगवान् द्वारा प्रदत्त वस्तुओं पर आश्रित है। यहाँ तक कि हमें अपने उत्पादन-उद्यमों के लिए अनेक कच्चे मालों की आवश्यकता होती है यथा धातु, गंधक, पारद, मैंगनीज तथा अन्य अनेक आवश्यक वस्तुएँ जिनकी पूर्ति भगवान् के प्रतिनिधि इस उद्देश्य से करते हैं कि हम इनका समुचित उपयोग करके आत्म-साक्षात्कार के लिए अपने आपको स्वस्थ एवं पुष्ट बनायें जिससे जीवन का चरम लक्ष्य अर्थात् भौतिक जीवन-संघर्ष से मुक्ति प्राप्त हो सके। यज्ञ सम्पन्न करने से मानव जीवन का यह लक्ष्य प्राप्त हो जाता है। यदि हम जीवन-उद्देश्य को भूल कर भगवान् के प्रतिनिधियों से अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए वस्तुएँ लेते रहेंगे और इस संसार में अधिकाधिक फँसते जायेंगे, जो कि सृष्टि का उद्देश्य नहीं है तो निश्चय ही हम चोर हैं और इस तरह हम प्रकृति के नियमों द्वारा दण्डित होंगे। चोरों का समाज कभी सुखी नहीं रह सकता क्योंकि उनका कोई जीवन-लक्ष्य नहीं होता। भौतिकतावादी चोरों का कभी कोई जीवन-लक्ष्य नहीं होता। उन्हें तो केवल इन्द्रियतृप्ति की चिन्ता रहती है, वे नहीं जानते कि यज्ञ किस तरह किये जाते हैं। किन्तु चैतन्य महाप्रभु ने यज्ञ सम्पन्न करने की सरलतम विधि का प्रवर्तन किया। यह है संकीर्तन-यज्ञ जो संसार के किसी भी व्यक्ति द्वारा, जो कृष्णभावनामृत के सिद्धान्तों को अंगीकार करता है, सम्पन्न किया जा सकता है।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥१३॥

यज्ञ-शिष्ट—यज्ञ सम्पन्न करने के बाद ग्रहण किये जाने वाले भोजन को; **अशिनः**—खाने वाले; **सन्तः**—भक्तगण; **मुच्यन्ते**—छुटकारा पाते हैं; **सर्व**—सभी तरह के; **किल्बिषैः**—पापों से; **भुञ्जते**—भोगते हैं; **ते**—वे; **तु**—लेकिन; **अघम्**—घोर पाप; **पापाः**—पापीजन; **ये**—जो; **पचन्ति**—भोजन बनाते हैं; **आत्म-कारणात्**—इन्द्रियसुख के लिए।

भगवान् के भक्त सभी प्रकार के पापों से मुक्त हो जाते हैं, क्योंकि वे यज्ञ में अर्पित किये भोजन (प्रसाद) को ही खाते हैं। अन्य लोग, जो अपने इन्द्रियसुख के लिए भोजन बनाते हैं, वे निश्चित रूप से पाप खाते हैं।

तात्पर्य : भगवद्भक्तों या कृष्णभावनाभावित पुरुषों को सन्त कहा जाता है। वे सदैव भगवत्प्रेम में निमग्न रहते हैं, जैसा कि *ब्रह्मसंहिता* में (५.३८) कहा गया है—*प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।* सन्तगण श्रीभगवान् गोविन्द (समस्त आनन्द के दाता), या मुकुन्द (मुक्ति के दाता), या कृष्ण (सबों को आकृष्ट करने वाले पुरुष) के प्रगाढ़ प्रेम में मग्न रहने के कारण कोई भी वस्तु परम पुरुष को अर्पित किये बिना ग्रहण नहीं करते। फलतः ऐसे भक्त पृथक्-पृथक् भक्ति-साधनों के द्वारा, यथा श्रवण, कीर्तन, स्मरण, अर्चन आदि के द्वारा यज्ञ करते रहते हैं, जिससे वे संसार की सम्पूर्ण पापमयी संगति के कल्मष से दूर रहते हैं। अन्य लोग, जो

अपने लिए या इन्द्रियतृप्ति के लिए भोजन बनाते हैं वे न केवल चोर हैं, अपितु सभी प्रकार के पापों को खाने वाले हैं। जो व्यक्ति चोर तथा पापी दोनों हो, भला वह किस तरह सुखी रह सकता है? यह सम्भव नहीं। अतः सभी प्रकार से सुखी रहने के लिए मनुष्यों को पूर्ण कृष्णभावनामृत में संकीर्तन-यज्ञ करने की सरल विधि बताई जानी चाहिए, अन्यथा संसार में शान्ति या सुख नहीं हो सकता।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥ १४॥

अन्नात्—अन्न से; **भवन्ति**—उत्पन्न होते हैं; **भूतानि**—भौतिक शरीर; **पर्जन्यात्**—वर्षा से; **अन्न**—अन्न का; **सम्भवः**—उत्पादन; **यज्ञात्**—यज्ञ सम्पन्न करने से; **भवति**—सम्भव होती है; **पर्जन्यः**—वर्षा; **यज्ञः**—यज्ञ का सम्पन्न होना; **कर्म**—नियत कर्तव्य से; **समुद्भवः**—उत्पन्न होता है।

सारे प्राणी अन्न पर आश्रित हैं, जो वर्षा से उत्पन्न होता है। वर्षा यज्ञ सम्पन्न करने से होती है और यज्ञ नियत कर्मों से उत्पन्न होता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* के महान टीकाकार श्रील बलदेव विद्याभूषण इस प्रकार लिखते हैं—*ये इन्द्राद्यङ्गतयावस्थितं यज्ञं सर्वेश्वरं विष्णुमभ्यर्च्य तच्छेषमश्नन्ति तेन तद्देहयात्रां सम्पादयन्ति ते सन्तः सर्वेश्वरस्य यज्ञपुरुषस्य भक्ताः सर्वकिल्बिषैर् अनादिकालविवृद्धैर् आत्मानुभवप्रतिबन्धकैर्निखिलैः पापैर्विमुच्यन्ते।* परमेश्वर, जो यज्ञपुरुष अथवा समस्त यज्ञों के भोक्ता कहलाते हैं, सभी देवताओं के स्वामी हैं और जिस प्रकार शरीर के अंग पूरे शरीर की सेवा करते हैं, उसी तरह सारे देवता उनकी सेवा करते हैं। इन्द्र, चन्द्र तथा वरुण जैसे देवता भगवान् द्वारा नियुक्त अधिकारी हैं, जो सांसारिक कार्यों की देखरेख करते हैं। सारे वेद इन देवताओं को प्रसन्न करने के लिए यज्ञों का निर्देश करते हैं, जिससे वे अन्न उत्पादन के लिए प्रचुर वायु, प्रकाश तथा जल प्रदान करें। जब कृष्ण की पूजा की जाती है तो उनके अंगस्वरूप देवताओं की भी स्वतः पूजा हो जाती है, अतः देवताओं की अलग से पूजा करने की आवश्यकता नहीं होती। इसी हेतु कृष्णभावनाभावित भगवद्भक्त सर्वप्रथम कृष्ण को भोजन अर्पित करते हैं और तब खाते हैं—यह ऐसी विधि है जिससे शरीर का आध्यात्मिक पोषण होता है। ऐसा करने से न केवल शरीर के विगत पापमय कर्मफल नष्ट होते हैं, अपितु शरीर प्रकृति के समस्त कल्मषों से निरापद हो जाता है। जब कोई छूत का रोग फैलता है तो इसके आक्रमण से बचने के लिए रोगाणुरोधी टीका लगाया जाता है। इसी प्रकार भगवान् विष्णु को अर्पित करके ग्रहण किया जाने वाला भोजन हमें भौतिक संदूषण से निरापद बनाता है और जो इस विधि का अभ्यस्त है वह भगवद्भक्त कहलाता है। अतः कृष्णभावनाभावित व्यक्ति, जो केवल कृष्ण को अर्पित किया गया भोजन करता है, वह उन समस्त विगत भौतिक दूषणों के फलों का सामना करने में समर्थ होता है, जो आत्म-साक्षात्कार के मार्ग में बाधक बनते हैं। इसके विपरीत जो ऐसा नहीं करता वह अपने पापपूर्ण कर्म को बढ़ाता रहता है जिससे उसे सारे पापफलों को भोगने के लिए अगला शरीर कूकरों-सूकरों के समान मिलता है। यह भौतिक जगत् नाना कल्मषों से पूर्ण है और जो भी

भगवान् के प्रसाद को ग्रहण करके उनसे निरापद हो लेता है वह उनके आक्रमण से बच जाता है, किन्तु जो ऐसा नहीं करता वह कल्मष का लक्ष्य बनता है।

अन्न अथवा शाक वास्तव में खाद्य हैं। मनुष्य विभिन्न प्रकार के अन्न, शाक, फल आदि खाते हैं, जबकि पशु इन पदार्थों के उच्छिष्ट को खाते हैं। जो मनुष्य मांस खाने के अभ्यस्त हैं उन्हें भी शाक के उत्पादन पर निर्भर रहना पड़ता है, क्योंकि पशु शाक ही खाते हैं। अतएव हमें अन्ततोगत्वा खेतों के उत्पादन पर ही आश्रित रहना है, बड़ी-बड़ी फैक्टरियों के उत्पादन पर नहीं। खेतों का यह उत्पादन आकाश से होने वाली प्रचुर वर्षा पर निर्भर करता है और ऐसी वर्षा इन्द्र, सूर्य, चन्द्र आदि देवताओं के द्वारा नियन्त्रित होती है। ये देवता भगवान् के दास हैं। भगवान् को यज्ञों के द्वारा सन्तुष्ट रखा जा सकता है, अतः जो इन यज्ञों को सम्पन्न नहीं करता, उसे अभाव का सामना करना होगा—यही प्रकृति का नियम है। अतः भोजन के अभाव से बचने के लिए यज्ञ, और विशेष रूप से इस युग के लिए संस्तुत संकीर्तन-यज्ञ, सम्पन्न करना चाहिए।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥१५॥

कर्म—कर्म; **ब्रह्म**—वेदों से; **उद्भवम्**—उत्पन्न; **विद्धि**—जानो; **ब्रह्म**—वेद; **अक्षर**—परब्रह्म से; **समुद्भवम्**—साक्षात् प्रकट हुआ; **तस्मात्**—अतः; **सर्व-गतम्**—सर्वव्यापी; **ब्रह्म**—ब्रह्म; **नित्यम्**—शाश्वत रूप से; **यज्ञे**—यज्ञ में; **प्रतिष्ठितम्**—स्थित।

वेदों में नियमित कर्मों का विधान है और ये वेद साक्षात् श्रीभगवान् (परब्रह्म) से प्रकट हुए हैं। फलतः सर्वव्यापी ब्रह्म यज्ञकर्मों में सदा स्थित रहता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में यज्ञार्थ-कर्म अर्थात् कृष्ण को प्रसन्न करने के लिए कर्म की आवश्यकता को भलीभाँति विवेचित किया गया है। यदि हमें यज्ञ-पुरुष विष्णु के परितोष के लिए कर्म करना है तो हमें ब्रह्म या दिव्य वेदों से कर्म की दिशा प्राप्त करनी होगी। अतः सारे वेद कर्मादेशों की संहिताएँ हैं। वेदों के निर्देश के बिना किया गया कोई भी कर्म विकर्म या अवैध अथवा पापपूर्ण कर्म कहलाता है। अतः कर्मफल से बचने के लिए सदैव वेदों से निर्देश प्राप्त करना चाहिए। जिस प्रकार सामान्य जीवन में राज्य के निर्देश के अन्तर्गत कार्य करना होता है उसी प्रकार भगवान् के परम राज्य के निर्देशन में कार्य करना चाहिए। वेदों में ऐसे निर्देश भगवान् के श्वास से प्रत्यक्ष प्रकट होते हैं। कहा गया है—*अस्य महतो भूतस्य निश्वसितम् एतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः* "चारों वेद—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद—भगवान् के श्वास से उद्भूत हैं।" (*बृहदारण्यक उपनिषद्* ४.५.११) *ब्रह्मसंहिता* से प्रमाणित होता है कि सर्वशक्तिमान होने के कारण भगवान् अपने श्वास के द्वारा बोल सकते हैं, अपनी प्रत्येक इन्द्रिय के द्वारा अन्य समस्त इन्द्रियों के कार्य सम्पन्न कर सकते हैं, दूसरे शब्दों में, भगवान् अपनी निःश्वास के द्वारा बोल सकते हैं और वे अपने नेत्रों से गर्भाधान कर सकते हैं। वस्तुतः यह कहा जाता है कि उन्होंने प्रकृति पर दृष्टिपात किया और समस्त जीवों को गर्भस्थ किया। इस तरह प्रकृति के गर्भ में बद्धजीवों को प्रविष्ट करने के पश्चात् उन्होंने उन्हें

वैदिक ज्ञान के रूप में आदेश दिया, जिससे वे भगवद्धाम वापस जा सकें। हमें यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि प्रकृति में सारे बद्धजीव भौतिक भोग के लिए इच्छुक रहते हैं। किन्तु वैदिक आदेश इस प्रकार बनाये गये हैं कि मुनष्य अपनी विकृत इच्छाओं की पूर्ति कर सकता है और तथाकथित सुखभोग पूरा करके भगवान् के पास लौट सकता है। बद्धजीवों के लिए मुक्ति प्राप्त करने का यह सुनहरा अवसर होता है, अतः उन्हें चाहिए कि कृष्णभावनाभावित होकर यज्ञ-विधि का पालन करें। यहाँ तक कि जो वैदिक आदेशों का पालन नहीं करते वे भी कृष्णभावनामृत के सिद्धान्तों को ग्रहण कर सकते हैं जिससे वैदिक यज्ञों या कर्मों की पूर्ति हो जाएगी।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥ १६॥

एवम्—इस प्रकार; **प्रवर्तितम्**—वेदों द्वारा स्थापित; **चक्रम्**—चक्र; **न**—नहीं; **अनुवर्तयति**—ग्रहण करता; **इह**—इस जीवन में; **यः**—जो; **अघ-आयुः**—पापपूर्ण जीवन है जिसका; **इन्द्रिय-आरामः**—इन्द्रियासक्त; **मोघम्**—वृथा; **पार्थ**—हे पृथापुत्र (अर्जुन); **सः**—वह; **जीवति**—जीवित रहता है।

हे प्रिय अर्जुन! जो मानव जीवन में इस प्रकार वेदों द्वारा स्थापित यज्ञ-चक्र का पालन नहीं करता वह निश्चय ही पापमय जीवन व्यतीत करता है। ऐसा व्यक्ति केवल इन्द्रियों की तुष्टि के लिए व्यर्थ ही जीवित रहता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में भगवान् ने "कठोर परिश्रम करो और इन्द्रियतृप्ति का आनन्द लो" इस सांसारिक विचारधारा का तिरस्कार किया है। अतः जो लोग इस संसार में भोग करना चाहते हैं उन्हें उपर्युक्त यज्ञ-चक्र का अनुसरण करना परमावश्यक है। जो ऐसे विधिविधानों का पालन नहीं करता, अधिकाधिक तिरस्कृत होने के कारण उसका जीवन अत्यन्त संकटपूर्ण रहता है। प्रकृति के नियमानुसार यह मानव शरीर विशेष रूप से आत्म-साक्षात्कार के लिए मिला है जिसे कर्मयोग, ज्ञानयोग या भक्तियोग में से किसी एक विधि से प्राप्त किया जा सकता है। इन योगियों के लिए यज्ञ सम्पन्न करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि ये पाप-पुण्य से परे होते हैं, किन्तु जो लोग इन्द्रियतृप्ति में जुटे हुए हैं उन्हें पूर्वोक्त यज्ञ-चक्र के द्वारा शुद्धिकरण की आवश्यकता रहती है। कर्म के अनेक भेद होते हैं। जो लोग कृष्णभावनाभावित नहीं हैं वे निश्चय ही विषय-परायण होते हैं, अतः उन्हें पुण्य कर्म करने की आवश्यकता होती है। यज्ञ पद्धति इस प्रकार सुनियोजित है कि विषयोन्मुख लोग विषयों के फल में फँसे बिना अपनी इच्छाओं की पूर्ति कर सकते हैं। संसार की सम्पन्नता हमारे प्रयासों पर नहीं, अपितु परमेश्वर की पृष्ठभूमि-योजना पर निर्भर है, जिसे देवता सम्पादित करते हैं। अतः वेदों में वर्णित देवताओं को लक्षित करके यज्ञ किये जाते हैं। अप्रत्यक्ष रूप में यह कृष्णभावनामृत का ही अभ्यास रहता है क्योंकि जब कोई इन यज्ञों में दक्षता प्राप्त कर लेता है तो वह अवश्य ही कृष्णभावनाभावित हो जाता है। किन्तु यदि ऐसे यज्ञ करने से कोई कृष्णभावनाभावित नहीं हो पाता तो इसे कोरी आचार-संहिता समझना

चाहिए। अतः मनुष्यों को चाहिए कि वे आचार-संहिता तक ही अपनी प्रगति को सीमित न करें, अपितु उसे पार करके कृष्णभावनामृत को प्राप्त हों।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥१७॥

यः–जो; **तु**–लेकिन; **आत्म-रतिः**–आत्मा में ही आनन्द लेते हुए; **एव**–निश्चय ही; **स्यात्**–रहता है; **आत्म-तृप्तः**–स्वयंप्रकाशित; **च**–तथा; **मानवः**–मनुष्य; **आत्मनि**–अपने में; **एव**–केवल; **च**–तथा; **सन्तुष्टः**–पूर्णतया सन्तुष्ट; **तस्य**–उसका; **कार्यम्**–कर्तव्य; **न**–नहीं; **विद्यते**–रहता है।

किन्तु जो व्यक्ति आत्मा में ही आनन्द लेता है तथा जिसका जीवन आत्म-साक्षात्कार युक्त है और जो अपने में ही पूर्णतया सन्तुष्ट रहता है उसके लिए कुछ करणीय (कर्तव्य) नहीं होता।

तात्पर्य : जो व्यक्ति पूर्णतया कृष्णभावनाभावित है और अपने कृष्णभावनामृत के कार्यों से पूर्णतया सन्तुष्ट रहता है उसे कुछ भी नियत कर्म नहीं करना होता। कृष्णभावनाभावित होने के कारण उसके हृदय का सारा मैल तुरन्त धुल जाता है, जो हजारों-हजारों यज्ञों को सम्पन्न करने पर ही सम्भव हो पाता है। इस प्रकार चेतना के शुद्ध होने से मनुष्य परमेश्वर के साथ अपने सम्बन्ध के प्रति पूर्णतया आश्वस्त हो जाता है। भगवत्कृपा से उसका कार्य स्वयंप्रकाशित हो जाता है; अतएव वैदिक आदेशों के प्रति उसका कर्तव्य निःशेष हो जाता है। ऐसा कृष्णभावनाभावित व्यक्ति कभी भी भौतिक कार्यों में रुचि नहीं लेता और न ही उसे सुरा, सुन्दरी तथा अन्य प्रलोभनों में कोई आनन्द मिलता है।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥१८॥

न–कभी नहीं; **एव**–निश्चय ही; **तस्य**–उसका; **कृतेन**–कार्यसम्पादन से; **अर्थः**–प्रयोजन; **न**–न तो; **अकृतेन**–कार्य न करने से; **इह**–इस संसार में; **कश्चन**–जो कुछ भी; **न**–कभी नहीं; **च**–तथा; **अस्य**–उसका; **सर्वभूतेषु**–समस्त जीवों में; **कश्चित्**–कोई; **अर्थ**–प्रयोजन; **व्यपाश्रयः**–शरणागत।

स्वरूपसिद्ध व्यक्ति के लिए न तो अपने नियत कर्मों को करने की आवश्यकता रह जाती है, न ऐसा कर्म न करने का कोई कारण ही रहता है। उसे किसी अन्य जीव पर निर्भर रहने की आवश्यकता भी नहीं रह जाती।

तात्पर्य : स्वरूपसिद्ध व्यक्ति को कृष्णभावनाभावित कर्म के अतिरिक्त कुछ भी करना नहीं होता। किन्तु यह कृष्णभावनामृत निष्क्रियता भी नहीं है, जैसा कि अगले श्लोकों में बताया जाएगा। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति किसी की शरण ग्रहण नहीं करता—चाहे वह मनुष्य हो या देवता। कृष्णभावनामृत में वह जो भी करता है वही उसके कर्तव्य-सम्पादन के लिए पर्याप्त है।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९ ॥

तस्मात्—अतः; **असक्तः**—आसक्तिरहित; **सततम्**—निरन्तर; **कार्यम्**—कर्तव्य के रूप में; **कर्म**—कार्य; **समाचर**—करो; **असक्तः**—अनासक्त; **हि**—निश्चय ही; **आचरन्**—करते हुए; **कर्म**—कार्य; **परम्**—परब्रह्म को; **आप्नोति**—प्राप्त करता है; **पूरुषः**—पुरुष, मनुष्य।

अतः कर्मफल में आसक्त हुए बिना मनुष्य को अपना कर्तव्य समझ कर निरन्तर कर्म करते रहना चाहिए क्योंकि अनासक्त होकर कर्म करने से उसे परब्रह्म (परम) की प्राप्ति होती है।

तात्पर्य : भक्तों के लिए श्रीभगवान् परम हैं और निर्विशेषवादियों के लिए मुक्ति परम है। अतः जो व्यक्ति समुचित पथप्रदर्शन पाकर और कर्मफल से अनासक्त होकर कृष्ण के लिए या कृष्णभावनामृत में कार्य करता है, वह निश्चित रूप से जीवन-लक्ष्य की ओर प्रगति करता है। अर्जुन से कहा जा रहा है कि वह कृष्ण के लिए कुरुक्षेत्र के युद्ध में लड़े क्योंकि कृष्ण की इच्छा है कि वह ऐसा करे। उत्तम व्यक्ति होना या अहिंसक होना व्यक्तिगत आसक्ति है, किन्तु फल की आसक्ति से रहित होकर कार्य करना परमात्मा के लिए कार्य करना है। यह उच्चतम कोटि का पूर्ण कर्म है, जिसकी संस्तुति भगवान् कृष्ण ने की है।

नियत यज्ञ, जैसे वैदिक अनुष्ठान, उन पापकर्मों की शुद्धि के लिए किये जाते हैं जो इन्द्रियतृप्ति के उद्देश्य से किये गए हों। किन्तु कृष्णभावनामृत में जो कर्म किया जाता है वह अच्छे या बुरे कर्म के फलों से परे है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति में फल के प्रति लेशमात्र आसक्ति नहीं रहती, वह तो केवल कृष्ण के लिए कार्य करता है। वह समस्त प्रकार के कर्मों में रत रह कर भी पूर्णतया अनासक्त रहा आता है।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि　　सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

कर्मणा—कर्म से; **एव**—ही; **हि**—निश्चय ही; **संसिद्धिम्**—पूर्णता में; **आस्थिताः**—स्थित; **जनक-आदयः**—जनक तथा अन्य राजा; **लोक-सङ्ग्रहम्**—सामान्य लोग; **एव अपि**—भी; **सम्पश्यन्**—विचार करते हुए; **कर्तुम्**—करने के लिए; **अर्हसि**—योग्य हो।

जनक जैसे राजाओं ने केवल नियत कर्मों को करने से ही सिद्धि प्राप्त की। अतः सामान्य जनों को शिक्षित करने की दृष्टि से तुम्हें कर्म करना चाहिए।

तात्पर्य : जनक जैसे राजा स्वरूपसिद्ध व्यक्ति थे, अतः वे वेदानुमोदित कर्म करने के लिए बाध्य न थे। तो भी वे लोग सामान्यजनों के समक्ष आदर्श प्रस्तुत करने के उद्देश्य से सारे नियत कर्म करते रहे। जनक सीताजी के पिता तथा भगवान् श्रीराम के श्वसुर थे। भगवान् के महान भक्त होने के कारण उनकी स्थिति दिव्य थी, किन्तु चूँकि वे मिथिला (जो भारत के बिहार प्रान्त में एक परगना है) के राजा थे, अतः उन्हें अपनी प्रजा को यह शिक्षा देनी थी कि कर्तव्य-पालन किस प्रकार किया जाता है। भगवान् कृष्ण तथा

उनके शाश्वत सखा अर्जुन को कुरुक्षेत्र के युद्ध में लड़ने की कोई आवश्यकता नहीं थी, किन्तु उन्होंने जनता को यह सिखाने के लिए युद्ध किया कि जब सत्परामर्श असफल हो जाते हैं तो ऐसी स्थिति में हिंसा आवश्यक हो जाती है। कुरुक्षेत्र युद्ध के पूर्व युद्ध-निवारण के लिए भगवान् तक ने सारे प्रयास किये, किन्तु दूसरा पक्ष लड़ने पर तुला था। अतः ऐसे सद्धर्म के लिए युद्ध करना आवश्यक था। यद्यपि कृष्णभावनाभावित व्यक्ति को संसार में कोई रुचि नहीं हो सकती तो भी वह जनता को यह सिखाने के लिए कि किस तरह रहना और कार्य करना चाहिए, कर्म करता रहता है। कृष्णभावनामृत में अनुभवी व्यक्ति इस तरह कार्य करते हैं कि अन्य लोग उनका अनुसरण कर सकें और इसकी व्याख्या अगले श्लोक में की गई है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ २१॥

यत् यत्—जो-जो; **आचरति**—करता है; **श्रेष्ठः**—आदरणीय नेता; **तत्**—वही; **तत्**—तथा केवल वही; **एव**—निश्चय ही; **इतरः**—सामान्य; **जनः**—व्यक्ति; **सः**—वह; **यत्**—जो कुछ; **प्रमाणम्**—उदाहरण, आदर्श; **कुरुते**—करता है; **लोकः**—सारा संसार; **तत्**—उसके; **अनुवर्तते**—पदचिन्हों का अनुसरण करता है।

महापुरुष जो जो आचरण करता है, सामान्य व्यक्ति उसी का अनुसरण करते हैं। वह अपने अनुसरणीय कार्यों से जो आर्दश प्रस्तुत करता है, सम्पूर्ण विश्व उसका अनुसरण करता है।

तात्पर्य : सामान्य लोगों को सदैव एक ऐसे नेता की आवश्यकता होती है, जो व्यावहारिक आचरण द्वारा जनता को शिक्षा दे सके। यदि नेता स्वयं धूम्रपान करता है तो वह जनता को धूम्रपान बन्द करने की शिक्षा नहीं दे सकता। चैतन्य महाप्रभु ने कहा है कि शिक्षा देने के पूर्व शिक्षक को ठीक-ठीक आचरण करना चाहिए। जो इस प्रकार शिक्षा देता है वह आचार्य या आदर्श शिक्षक कहलाता है। अतः शिक्षक को चाहिए कि सामान्यजन को शिक्षा देने के लिए स्वयं शास्त्रीय सिद्धान्तों का पालन करे। कोई भी शिक्षक प्राचीन प्रामाणिक ग्रंथों के नियमों के विपरीत कोई नियम नहीं बना सकता। मनु-संहिता जैसे प्रामाणिक ग्रंथ मानव समाज के लिए अनुसरणीय आदर्श ग्रंथ हैं, अतः नेता का उपदेश ऐसे आदर्श शास्त्रों के नियमों पर आधारित होना चाहिए। जो व्यक्ति अपनी उन्नति चाहता है उसे महान शिक्षकों द्वारा अभ्यास किये जाने वाले आदर्श नियमों का पालन करना चाहिए। *श्रीमद्भागवत* भी इसकी पुष्टि करता है कि मनुष्य को महान भक्तों के पदचिन्हों का अनुसरण करना चाहिए और आध्यात्मिक बोध के पथ में प्रगति का यही साधन है। चाहे राजा हो या राज्य का प्रशासनाधिकारी, चाहे पिता हो या शिक्षक—ये सब अबोध जनता के स्वाभाविक नेता माने जाते हैं। इन सबका अपने आश्रितों के प्रति महान उत्तरदायित्व रहता है, अतः इन्हें नैतिक तथा आध्यात्मिक संहिता सम्बन्धी आदर्श ग्रंथों से सुपरिचित होना चाहिए।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥ २२॥

न—नहीं; **मे**—मुझे; **पार्थ**—हे पृथापुत्र; **अस्ति**—है; **कर्तव्यम्**—नियत कार्य; **त्रिषु**—तीनों; **लोकेषु**—लोकों में; **किञ्चन**—कोई; **न**—कुछ नहीं; **अनवाप्तम्**—इच्छित; **अवाप्तव्यम्**—पाने के लिए; **वर्ते**—लगा रहता हूँ; **एव**—निश्चय ही; **च**—भी; **कर्मणि**—नियत कर्मों में।

हे पृथापुत्र! तीनों लोकों में मेरे लिए कोई भी कर्म नियत नहीं है, न मुझे किसी वस्तु का अभाव है और न आवश्यकता ही है। तो भी मैं नियतकर्म करने में तत्पर रहता हूँ।

तात्पर्य : वैदिक साहित्य में भगवान् का वर्णन इस प्रकार हुआ है—

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद् विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्॥
न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥

"परमेश्वर समस्त नियन्ताओं के नियन्ता हैं और विभिन्न लोकपालकों में सबसे महान हैं। सभी उनके अधीन हैं। सारे जीवों को परमेश्वर से ही विशिष्ट शक्ति प्राप्त होती है, जीव स्वयं श्रेष्ठ नहीं है। वे सभी देवताओं द्वारा पूज्य हैं और समस्त संचालकों के भी संचालक हैं। अतः वे समस्त भौतिक नेताओं तथा नियन्ताओं से बढ़कर हैं और सबों द्वारा आराध्य हैं। उनसे बढ़कर कोई नहीं है और वे ही समस्त कारणों के कारण हैं।"

"उनका शारीरिक स्वरूप सामान्य जीव जैसा नहीं होता। उनके शरीर तथा आत्मा में कोई अन्तर नहीं है। वे परम हैं। उनकी सारी इन्द्रियाँ दिव्य हैं। उनकी कोई भी इन्द्रिय अन्य किसी इन्द्रिय का कार्य सम्पन्न कर सकती है। अतः न तो कोई उनसे बढ़कर है, न ही उनके तुल्य है। उनकी शक्तियाँ बहुरूपिणी हैं, फलतः उनके सारे कार्य प्राकृतिक अनुक्रम के अनुसार सम्पन्न हो जाते हैं।" (*श्वेताश्वतर उपनिषद्* ६.७-८)।

चूँकि भगवान् में प्रत्येक वस्तु ऐश्वर्य से परिपूर्ण रहती है और पूर्ण सत्य से ओतप्रोत रहती है, अतः उनके लिए कोई कर्तव्य करने की आवश्यकता नहीं रहती। जिसे अपने कर्म का फल पाना है, उसके लिए कुछ न कुछ कर्म नियत रहता है, परन्तु जो तीनों लोकों में कुछ भी प्राप्त करने की इच्छा नहीं रखता, उसके लिए निश्चय ही कोई कर्तव्य नहीं रहता। फिर भी क्षत्रियों के नायक के रूप में भगवान् कृष्ण कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में कार्यरत हैं, क्योंकि क्षत्रियों का धर्म है कि दीन-दुखियों को आश्रय प्रदान करें। यद्यपि वे शास्त्रों के विधि-विधानों से सर्वथा ऊपर हैं, फिर भी वे ऐसा कुछ भी नहीं करते जो शास्त्रों के विरुद्ध हो।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ २३॥

यदि—यदि; **हि**—निश्चय ही; **अहम्**—मैं; **न**—नहीं; **वर्तेयम्**—इस प्रकार व्यस्त रहूँ; **जातु**—कभी;

कर्मणि—नियत कर्मों के सम्पादन में; **अतन्द्रितः**—सावधानी के साथ; **मम**—मेरा; **वर्त्म**—पथ; **अनुवर्तन्ते**—अनुगमन करेंगे; **मनुष्याः**—सारे मनुष्य; **पार्थ**—हे पृथापुत्र; **सर्वशः**—सभी प्रकार से।

क्योंकि यदि मैं नियत कर्मों को सावधानीपूर्वक न करूँ तो हे पार्थ! यह निश्चित है कि सारे मनुष्य मेरे पथ का ही अनुगमन करेंगे।

तात्पर्य : आध्यात्मिक जीवन की उन्नति के लिए एवं सामाजिक शान्ति में संतुलन बनाये रखने के लिए कुछ परम्परागत कुलाचार हैं जो प्रत्येक सभ्य व्यक्ति के लिए होते हैं। ऐसे विधि-विधान केवल बद्धजीवों के लिए हैं, भगवान् कृष्ण के लिए नहीं, लेकिन क्योंकि वे धर्म की स्थापना के लिए अवतरित हुए थे, अतः उन्होंने निर्दिष्ट नियमों का पालन किया। अन्यथा, सामान्य व्यक्ति भी उन्हीं के पदचिन्हों का अनुसरण करते क्योंकि कृष्ण परम प्रमाण हैं। *श्रीमद्भागवत* से यह ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण अपने घर में तथा बाहर गृहस्थोचित धर्म का आचरण करते रहे।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ २४ ॥

उत्सीदेयुः—नष्ट हो जायँ; **इमे**—ये सब; **लोकाः**—लोक; **न**—नहीं; **कुर्याम्**—करूँ; **कर्म**—नियत कार्य; **चेत्**—यदि; **अहम्**—मैं; **संकरस्य**—अवांछित संतति का; **च**—तथा; **कर्ता**—स्रष्टा; **स्याम्**—होऊँगा; **उपहन्याम्**—विनष्ट करूँगा; **इमाः**—इन सब; **प्रजाः**—जीवों को।

यदि मैं नियतकर्म न करूँ तो ये सारे लोग नष्ट हो जायँ। तब मैं अवांछित जनसमुदाय (वर्णसंकर) को उत्पन्न करने का कारण हो जाऊँगा और इस तरह सम्पूर्ण प्राणियों की शान्ति का विनाशक बनूँगा।

तात्पर्य : वर्णसंकर अवांछित जनसमुदाय है जो सामान्य समाज की शान्ति को भंग करता है। इस सामाजिक अशान्ति को रोकने के लिए अनेक विधि-विधान हैं जिनके द्वारा स्वतः ही जनता आध्यात्मिक प्रगति के लिए शान्त तथा सुव्यवस्थित हो जाती है। जब भगवान् कृष्ण अवतरित होते हैं तो स्वाभाविक है कि वे ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्यों की प्रतिष्ठा तथा अनिवार्यता बनाये रखने के लिए इन विधि-विधानों के अनुसार आचरण करते हैं। भगवान् समस्त जीवों के पिता हैं और यदि ये जीव पथभ्रष्ट हो जायँ तो अप्रत्यक्ष रूप में यह उत्तरदायित्व उन्हीं का है। अतः जब भी विधि-विधानों का अनादर होता है, तो भगवान् स्वयं समाज को सुधारने के लिए अवतरित होते हैं। किन्तु हमें ध्यान देना होगा कि यद्यपि हमें भगवान् के पदचिन्हों का अनुसरण करना है, तो भी हम उनका अनुकरण नहीं कर सकते। अनुसरण और अनुकरण एक से नहीं होते। हम गोवर्धन पर्वत उठाकर भगवान् का अनुकरण नहीं कर सकते, जैसा कि भगवान् ने अपने बाल्यकाल में किया था। ऐसा कर पाना किसी मनुष्य के लिए सम्भव नहीं। हमें उनके उपदेशों का पालन करना चाहिए, किन्तु किसी भी समय हमें उनका अनुकरण नहीं करना है। *श्रीमद्भागवत* में (१०.३३.३०-३१) इसकी पुष्टि की गई है—

नैतत्समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः।
विनश्यत्याचरन् मौढ्याद्यथारुद्रोऽब्धिजं विषम्॥
ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित्।
तेषां यत् स्ववचोयुक्तं बुद्धिमांस्तत् समाचरेत्॥

"मनुष्य को भगवान् तथा उनके द्वारा शक्तिप्रदत्त सेवकों के उपदेशों का मात्र पालन करना चाहिए। उनके उपदेश हमारे लिए अच्छे हैं और कोई भी बुद्धिमान पुरुष बताई गई विधि से उनको कार्यान्वित करेगा। फिर भी मनुष्य को सावधान रहना चाहिए कि वह उनके कार्यों का अनुकरण न करे। उसे शिवजी के अनुकरण में विष का समुद्र नहीं पी लेना चाहिए।"

हमें सदैव ईश्वरों की या सूर्य तथा चन्द्रमा की गतियों को वास्तव में नियंत्रित कर सकने वालों की स्थिति को श्रेष्ठ मानना चाहिए। ऐसी शक्ति के बिना कोई भी सर्वशक्तिमान ईश्वरों का अनुकरण नहीं कर सकता। शिवजी ने सागर तक के विष का पान कर लिया, किन्तु यदि कोई सामान्य व्यक्ति विष की एक बूँद भी पीने का यत्न करेगा तो वह मर जाएगा। शिवजी के अनेक छद्मभक्त हैं जो गाँजा तथा ऐसी ही अन्य मादक वस्तुओं का सेवन करते रहते हैं। किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि इस प्रकार शिवजी का अनुकरण करके वे अपनी मृत्यु को निकट बुला रहे हैं। इसी प्रकार भगवान् कृष्ण के भी अनेक छद्मभक्त हैं जो भगवान् की रासलीला या प्रेमनृत्य का अनुकरण करना चाहते हैं, किन्तु यह भूल जाते हैं कि वे गोवर्धन पर्वत को धारण नहीं कर सकते। अतः सबसे अच्छा तो यही होगा कि लोग शक्तिमान का अनुकरण न करके केवल उनके उपदेशों का पालन करें। न ही बिना योग्यता के किसी को उनका स्थान ग्रहण करने का प्रयत्न करना चाहिए। ऐसे अनेक ईश्वर के "अवतार" हैं जिनमें भगवान् की शक्ति नहीं होती।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २५ ॥

सक्ताः—आसक्त; **कर्मणि**—नियत कर्मों में; **अविद्वांसः**—अज्ञानी; **यथा**—जिस तरह; **कुर्वन्ति**—करते हैं; **भारत**—हे भरतवंशी; **कुर्यात्**—करना चाहिए; **विद्वान्**—विद्वान; **तथा**—उसी तरह; **असक्तः**—अनासक्त; **चिकीर्षुः**—चाहते हुए भी, इच्छुक; **लोक-संग्रहम्**—सामान्य जन।

जिस प्रकार अज्ञानी-जन फल की आसक्ति से कार्य करते हैं, उसी तरह विद्वान् जनों को चाहिए कि वे लोगों को उचित पथ पर ले जाने के लिए अनासक्त रहकर कार्य करें।

तात्पर्य : एक कृष्णभावनाभावित मनुष्य तथा एक कृष्णभावनाहीन व्यक्ति में केवल इच्छाओं का भेद होता है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति कभी ऐसा कोई कार्य नहीं करता जो कृष्णभावनामृत के विकास में सहायक न हो। यहाँ तक कि वह उस अज्ञानी पुरुष की तरह कर्म कर सकता है जो भौतिक कार्यों में अत्यधिक आसक्त रहता है। किन्तु इनमें से एक ऐसे कार्य अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए करता है, जबकि दूसरा कृष्ण की

तुष्टि के लिए। अतः कृष्णभावनाभावित व्यक्ति को चाहिए कि वह लोगों को यह प्रदर्शित करे कि किस तरह कार्य किया जाता है और किस तरह कर्मफलों को कृष्णभावनामृत कार्य में नियोजित किया जाता है।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥ २६॥

न—नहीं; **बुद्धिभेदम्**—बुद्धि का विचलन; **जनयेत्**—उत्पन्न करे; **अज्ञानाम्**—मूर्खों का; **कर्म-संगिनाम्**—सकाम कर्मों में आसक्त; **जोषयेत्**—नियोजित करे; **सर्व**—सारे; **कर्माणि**—कर्म; **विद्वान्**—विद्वान व्यक्ति; **युक्तः**—लगा हुआ, तत्पर; **समाचरन्**—अभ्यास करता हुआ।

विद्वान व्यक्ति को चाहिए कि वह सकाम कर्मों में आसक्त अज्ञानी पुरुषों को कर्म करने से रोके नहीं ताकि उनके मन विचलित न हों। अपितु भक्तिभाव से कर्म करते हुए वह उन्हें सभी प्रकार के कार्यों में लगाये (जिससे कृष्णभावनामृत का क्रमिक विकास हो)।

तात्पर्य : *वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*—यह सिद्धान्त सम्पूर्ण वैदिक अनुष्ठानों की पराकाष्ठा है। सारे अनुष्ठान, सारे यज्ञ-कृत्य तथा वेदों में भौतिक कार्यों के लिए जो भी निर्देश हैं उन सबों समेत सारी वस्तुएँ कृष्ण को जानने के निमित्त हैं जो हमारे जीवन के चरमलक्ष्य हैं। लेकिन चूँकि बद्धजीव इन्द्रियतृप्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं जानते, अतः वे वेदों का अध्ययन इसी दृष्टि से करते हैं। किन्तु सकाम कर्मों तथा वैदिक अनुष्ठानों के द्वारा नियमित इन्द्रियतृप्ति के माध्यम से मनुष्य धीरे-धीरे कृष्णभावनामृत को प्राप्त होता है, अतः कृष्णभावनामृत में स्वरूपसिद्ध जीव को चाहिए कि अन्यों को अपना कार्य करने या समझने में बाधा न पहुँचाये, अपितु उन्हें यह प्रदर्शित करे कि किस प्रकार सारे कर्मफल को कृष्ण की सेवा में समर्पित किया जा सकता है। कृष्णभावनाभावित विद्वान व्यक्ति इस तरह कार्य कर सकता है कि इन्द्रियतृप्ति के लिए कर्म करने वाले अज्ञानी पुरुष यह सीख लें कि किस तरह कार्य करना चाहिए और आचरण करना चाहिए। यद्यपि अज्ञानी पुरुष को उसके कार्यों में छेड़ना ठीक नहीं होता, परन्तु यदि वह रंचभर भी कृष्णभावनाभावित है तो वह वैदिक विधियों की परवाह न करते हुए सीधे भगवान् की सेवा में लग सकता है। ऐसे भाग्यशाली व्यक्ति को वैदिक अनुष्ठान करने की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि प्रत्यक्ष कृष्णभावनामृत के द्वारा उसे वे सारे फल प्राप्त हो जाते हैं, जो उसे अपने कर्तव्यों के पालन करने से प्राप्त होते।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥ २७॥

प्रकृतेः—प्रकृति का; **क्रियमाणानि**—किये जाकर; **गुणैः**—गुणों के द्वारा; **कर्माणि**—कर्म; **सर्वशः**—सभी प्रकार के; **अहङ्कार-विमूढ**—अहंकार से मोहित; **आत्मा**—आत्मा; **कर्ता**—करने वाला; **अहम्**—मैं हूँ; **इति**—इस प्रकार; **मन्यते**—सोचता है।

जीवात्मा अहंकार के प्रभाव से मोहग्रस्त होकर अपने आपको समस्त कर्मों का कर्ता मान बैठता है, जब कि वास्तव में वे प्रकृति के तीनों गुणों द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं।

तात्पर्य : दो व्यक्ति जिनमें से एक कृष्णभावनाभावित है और दूसरा भौतिक चेतना वाला है, समान स्तर पर कार्य करते हुए समान पद पर प्रतीत हो सकते हैं, किन्तु उनके पदों में आकाश-पाताल का अन्तर रहता है। भौतिक चेतना वाला व्यक्ति अहंकार के कारण आश्वस्त रहता है कि वही सभी वस्तुओं का कर्ता है। वह यह नहीं जानता कि शरीर की रचना प्रकृति द्वारा हुई है, जो परमेश्वर की अध्यक्षता में कार्य करती है। भौतिकतावादी व्यक्ति यह नहीं जानता कि अन्ततोगत्वा वह कृष्ण के अधीन है। अहंकारवश ऐसा व्यक्ति हर कार्य को स्वतन्त्र रूप से करने का श्रेय लेना चाहता है और यही है उसके अज्ञान का लक्षण। उसे यह ज्ञात नहीं कि उसके इस स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर की रचना प्रकृति द्वारा भगवान् की अध्यक्षता में की गई है, अतः उसके सारे शारीरिक तथा मानसिक कार्य कृष्णभावनामृत में रहकर कृष्ण की सेवा में तत्पर होने चाहिए। अज्ञानी व्यक्ति यह भूल जाता है कि भगवान् हृषीकेश कहलाते हैं अर्थात् वे शरीर की इन्द्रियों के स्वामी हैं। इन्द्रियतृप्ति के लिए इन्द्रियों का निरन्तर उपयोग करते रहने से वह अहंकार के कारण वस्तुतः मोहग्रस्त रहता है, जिससे वह कृष्ण के साथ अपने शाश्वत सम्बन्ध को भूल जाता है।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥ २८॥

तत्त्ववित्—परम सत्य को जानने वाला; **तु**—लेकिन; **महाबाहो**—हे विशाल भुजाओं वाले; **गुण-कर्म**—भौतिक प्रभाव के अन्तर्गत कर्म के; **विभागयोः**—भेद के; **गुणाः**—इन्द्रियाँ; **गुणेषु**—इन्द्रियतृप्ति में; **वर्तन्ते**—तत्पर रहती हैं; **इति**—इस प्रकार; **मत्वा**—मानकर; **न**—कभी नहीं; **सज्जते**—आसक्त होता है।

हे महाबाहो! भक्तिभावमय कर्म तथा सकाम कर्म के भेद को भलीभाँति जानते हुए जो परम सत्य को जानने वाला है, वह कभी भी अपने आपको इन्द्रियों में तथा इन्द्रियतृप्ति में नहीं लगाता।

तात्पर्य : परम सत्य को जानने वाला भौतिक संगति में अपनी विषम स्थिति को जानता है। वह जानता है कि वह भगवान् कृष्ण का अंश है और उसका स्थान इस भौतिक सृष्टि में नहीं होना चाहिए। वह अपने वास्तविक स्वरूप को भगवान् के अंश के रूप में जानता है जो सत् चित् आनंद हैं और उसे यह अनुभूति होती रहती है कि "मैं किसी कारण से देहात्मबुद्धि में फँस चुका हूँ।" अपने अस्तित्व की शुद्ध अवस्था में उसे सारे कार्य भगवान् कृष्ण की सेवा में नियोजित करने चाहिए। फलतः वह अपने आपको कृष्णभावनामृत के कार्यों में लगाता है और भौतिक इन्द्रियों के कार्यों के प्रति स्वभावतः अनासक्त हो जाता है क्योंकि ये परिस्थितिजन्य तथा अस्थायी हैं। वह जानता है कि

उसके जीवन की भौतिक दशा भगवान् के नियन्त्रण में है, फलतः वह सभी प्रकार के भौतिक बन्धनों से विचलित नहीं होता क्योंकि वह इन्हें भगवत्कृपा मानता है। *श्रीमद्भागवत* के अनुसार जो व्यक्ति परम सत्य को ब्रह्म, परमात्मा तथा श्रीभगवान्—इन तीन विभिन्न रूपों में जानता है वह तत्त्ववित् कहलाता है, क्योंकि वह परमेश्वर के साथ अपने वास्तविक सम्बन्ध को भी जानता है।

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥ २९॥

प्रकृतेः—प्रकृति के; **गुण**—गुणों से; **सम्मूढाः**—भौतिक पहचान से बेवकूफ बने हुए; **सज्जन्ते**—लग जाते हैं; **गुण-कर्मसु**—भौतिक कर्मों में; **तान्**—उन; **अकृत्स्नविदः**—अल्पज्ञानी पुरुष; **मन्दान्**—आत्म-साक्षात्कार समझने में आलसियों को; **कृत्स्न-वित्**—ज्ञानी; **न**—नहीं; **विचालयेत्**—विचलित करने का प्रयत्न करना चाहिए।

माया के गुणों से मोहग्रस्त होने पर अज्ञानी पुरुष पूर्णतया भौतिक कार्यों में संलग्न रहकर उनमें आसक्त हो जाते हैं। यद्यपि उनके ये कार्य उनमें ज्ञानाभाव के कारण अधम होते हैं, किन्तु ज्ञानी को चाहिए कि उन्हें विचलित न करे।

तात्पर्य : अज्ञानी मनुष्य स्थूल भौतिक चेतना से और भौतिक उपाधियों से पूर्ण रहते हैं। यह शरीर प्रकृति की देन है और जो व्यक्ति शारीरिक चेतना में अत्यधिक आसक्त होता है वह मन्द अर्थात् आलसी कहा जाता है। अज्ञानी मनुष्य शरीर को आत्मस्वरूप मानते हैं, वे अन्यों के साथ शारीरिक सम्बन्ध को बन्धुत्व मानते हैं, जिस देश में यह शरीर प्राप्त हुआ है उसे वे पूज्य मानते हैं और वे धार्मिक अनुष्ठानों की औपचारिकताओं को ही अपना लक्ष्य मानते हैं। ऐसे भौतिकताग्रस्त उपाधिधारी पुरुषों के कुछ प्रकार के कार्यों में सामाजिक सेवा, राष्ट्रीयता तथा परोपकार हैं। ऐसी उपाधियों के चक्कर में वे सदैव भौतिक क्षेत्र में व्यस्त रहते हैं, उनके लिए आध्यात्मिक बोध मिथ्या है, अतः वे इसमें रुचि नहीं लेते। किन्तु जो लोग आध्यात्मिक जीवन में जागरुक हैं, उन्हें चाहिए कि इस तरह भौतिकता में मग्न व्यक्तियों को विचलित न करें। अच्छा तो यही होगा कि वे शान्तभाव से अपने आध्यात्मिक कार्यों को करें। ऐसे मोहग्रस्त व्यक्ति अहिंसा जैसे जीवन के मूलभूत नैतिक सिद्धान्तों तथा इसी प्रकार के परोपकारी कार्यों में लगे हो सकते हैं।

जो लोग अज्ञानी हैं वे कृष्णभावनामृत के कार्यों को समझ नहीं पाते, अतः भगवान् कृष्ण हमें उपदेश देते हैं कि ऐसे लोगों को विचलित न किया जाय और व्यर्थ ही मूल्यवान समय नष्ट न किया जाय। किन्तु भगवद्भक्त भगवान् से भी अधिक दयालु होते हैं, क्योंकि वे भगवान् के अभिप्राय को समझते हैं। फलतः वे सभी प्रकार के संकट झेलते हैं, यहाँ तक कि वे इन अज्ञानी पुरुषों के पास जा-जा कर उन्हें कृष्णभावनामृत के कार्यों में प्रवृत्त करने का प्रयास करते हैं, जो मानव के लिए परमावश्यक है।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥ ३०॥

मयि–मुझमें; **सर्वाणि**–सब तरह के; **कर्माणि**–कर्मों को; **संन्यस्य**–पूर्णतया त्याग करके; **अध्यात्म**–पूर्ण आत्मज्ञान से युक्त; **चेतसा**–चेतना से; **निराशीः**–लाभ की आशा से रहित, निष्काम; **निर्ममः**–स्वामित्व की भावना से रहित, ममतात्यागी; **भूत्वा**–होकर; **युध्यस्व**–लड़ो; **विगत-ज्वरः**–आलस्यरहित।

अतः हे अर्जुन! अपने सारे कार्यों को मुझमें समर्पित करके मेरे पूर्ण ज्ञान से युक्त होकर, लाभ की आकांक्षा से रहित, स्वामित्व के किसी दावे के बिना तथा आलस्य से रहित होकर युद्ध करो।

तात्पर्य : यह श्लोक *भगवद्गीता* के प्रयोजन को स्पष्टतया इंगित करने वाला है। भगवान् की शिक्षा है कि स्वधर्म पालन के लिए सैन्य अनुशासन के सदृश पूर्णतया कृष्णभावनाभावित होना आवश्यक है। ऐसे आदेश से कुछ कठिनाई उपस्थित हो सकती है, फिर भी कृष्ण के आश्रित होकर स्वधर्म का पालन करना ही चाहिए, क्योंकि यह जीव की स्वाभाविक स्थिति है। जीव भगवान् के सहयोग के बिना सुखी नहीं हो सकता क्योंकि जीव की नित्य स्वाभाविक स्थिति ऐसी है कि भगवान् की इच्छाओं के अधीन रहा जाय। अतः श्रीकृष्ण ने अर्जुन को युद्ध करने का इस तरह आदेश दिया मानो भगवान् उसके सेनानायक हों। परमेश्वर की इच्छा के लिए मनुष्य को सर्वस्व की बलि करनी होती है और साथ ही स्वामित्व जताये बिना स्वधर्म का पालन करना होता है। अर्जुन को भगवान् के आदेश का मात्र पालन करना था। परमेश्वर समस्त आत्माओं के आत्मा हैं, अतः जो पूर्णतया परमेश्वर पर आश्रित रहता है या दूसरे शब्दों में, जो पूर्णतया कृष्णभावनाभावित है वह अध्यात्मचेतस कहलाता है। *निराशीः* का अर्थ है स्वामी के आदेशानुसार कार्य करना, किन्तु फल की आशा न करना। कोषाध्यक्ष अपने स्वामी के लिए लाखों रुपये गिन सकता है, किन्तु इसमें से वह अपने लिए एक पैसा भी नहीं चाहता। इसी प्रकार मनुष्य को यह समझना चाहिए कि इस संसार में किसी व्यक्ति का कुछ भी नहीं है, सारी वस्तुएँ परमेश्वर की हैं। *मयि* अर्थात् मुझमें का वास्तविक तात्पर्य यही है। और जब मनुष्य इस प्रकार से कृष्णभावनामृत में कार्य करता है तो वह किसी वस्तु पर अपने स्वामित्व का दावा नहीं करता। यह भावनामृत *निर्मम* अर्थात् "मेरा कुछ नहीं है" कहलाता है। यदि ऐसे कठोर आदेश को, जो शारीरिक सम्बन्ध में तथाकथित बन्धुत्व भावना से रहित है, पूरा करने में कुछ झिझक हो तो उसे दूर कर देना चाहिए। इस प्रकार मनुष्य *विगतज्वर* अर्थात् ज्वर या आलस्य से रहित हो सकता है। अपने गुण तथा स्थिति के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को विशेष प्रकार का कार्य करना होता है और ऐसे कर्तव्यों का पालन कृष्णभावनाभावित होकर किया जा सकता है। इससे मुक्ति का मार्ग प्रशस्त हो जायेगा।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥ ३१॥

ये–जो; **मे**–मेरे; **मतम्**–आदेशों को; **इदम्**–इन; **नित्यम्**–नित्यकार्य के रूप में; **अनुतिष्ठन्ति**–नियमित रूप से पालन करते हैं; **मानवाः**–मानव प्राणी; **श्रद्धा-वन्तः**–श्रद्धा तथा भक्ति

समेत; **अनसूयन्तः**—बिना ईर्ष्या के; **मुच्यन्ते**—मुक्त हो जाते हैं; **ते**—वे; **अपि**—भी; **कर्मभिः**—सकामकर्मों के नियमरूपी बन्धन से।

जो व्यक्ति मेरे आदेशों के अनुसार अपना कर्तव्य करते रहते हैं और ईर्ष्यारहित होकर इस उपदेश का श्रद्धापूर्वक पालन करते हैं, वे सकाम कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं।

तात्पर्य : श्रीभगवान् कृष्ण का उपदेश समस्त वैदिक ज्ञान का सार है, अतः किसी अपवाद के बिना यह शाश्वत सत्य है। जिस प्रकार वेद शाश्वत हैं उसी प्रकार कृष्णभावनामृत का यह सत्य भी शाश्वत है। मनुष्य को चाहिए कि भगवान् से ईर्ष्या किये बिना इस आदेश में दृढ विश्वास रखे। ऐसे अनेक दार्शनिक हैं, जो *भगवद्गीता* पर टीका रचते हैं, किन्तु कृष्ण में कोई श्रद्धा नहीं रखते। वे कभी भी सकाम कर्मों के बन्धन से मुक्त नहीं हो सकते। किन्तु एक सामान्य पुरुष भगवान् के इन आदेशों में दृढविश्वास करके कर्म-नियम के बन्धन से मुक्त हो जाता है, भले ही वह इन आदेशों का ठीक से पालन न कर पाए। कृष्णभावनामृत के प्रारम्भ में भले ही कृष्ण के आदेशों का पूर्णतया पालन न हो पाए, किन्तु चूँकि मनुष्य इस नियम से रुष्ट नहीं होता और पराजय तथा निराशा का विचार किये बिना निष्ठापूर्वक कार्य करता है, अतः वह विशुद्ध कृष्णभावनामृत को प्राप्त होता है।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥

ये—जो; **तु**—किन्तु; **एतत्**—इस; **अभ्यसूयन्तः**—ईर्ष्यावश; **न**—नहीं; **अनुतिष्ठन्ति**—नियमित रूप से सम्पन्न करते हैं; **मे**—मेरा; **मतम्**—आदेश; **सर्व-ज्ञान**—सभी प्रकार के ज्ञान में; **विमूढान्**—पूर्णतया दिग्भ्रमित; **तान्**—उन्हें; **विद्धि**—ठीक से जानो; **नष्टान्**—नष्ट हुए; **अचेतसः**—कृष्णभावनामृत रहित।

किन्तु जो ईर्ष्यावश इन उपदेशों की उपेक्षा करते हैं और इनका पालन नहीं करते उन्हें समस्त ज्ञान से रहित, दिग्भ्रमित तथा सिद्धि के प्रयासों में नष्ट-भ्रष्ट समझना चाहिए।

तात्पर्य : यहाँ पर कृष्णभावनाभावित न होने के दोष का स्पष्ट कथन है। जिस प्रकार परम अधिशासी की आज्ञा के उल्लंघन के लिए दण्ड होता है, उसी प्रकार भगवान् के आदेश के प्रति अवज्ञा के लिए भी दण्ड है। अवज्ञाकारी व्यक्ति चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो वह शून्यहृदय होने से आत्मा के प्रति तथा परब्रह्म, परमात्मा एवं श्रीभगवान् के प्रति अनभिज्ञ रहता है। अतः ऐसे व्यक्ति से जीवन की सार्थकता की आशा नहीं की जा सकती।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ३३ ॥

सदृशम्—अनुसार; **चेष्टते**—चेष्टा करता है; **स्वस्याः**—अपने; **प्रकृतेः**—गुणों से; **ज्ञान-वान्**—विद्वान्;

अपि–यद्यपि; **प्रकृतिम्**–प्रकृति को; **यान्ति**–प्राप्त होते हैं; **भूतानि**–सारे प्राणी; **निग्रहः**–दमन; **किम्**–क्या; **करिष्यति**–कर सकता है।

ज्ञानी पुरुष भी अपनी प्रकृति के अनुसार कार्य करता है, क्योंकि सभी प्राणी तीनों गुणों से प्राप्त अपनी प्रकृति का ही अनुसरण करते हैं। भला दमन से क्या हो सकता है?

तात्पर्य : कृष्णभावनामृत के दिव्य पद पर स्थित हुए बिना प्रकृति के गुणों के प्रभाव से मुक्त नहीं हुआ जा सकता, जैसा कि स्वयं भगवान् ने सातवें अध्याय में (७.१४) कहा है। अतः सांसारिक धरातल पर बड़े से बड़े शिक्षित व्यक्ति के लिए केवल सैद्धान्तिक ज्ञान से आत्मा को शरीर से पृथक् करके माया के बन्धन से निकल पाना असम्भव है। ऐसे अनेक तथाकथित अध्यात्मवादी हैं, जो अपने को विज्ञान में बढ़ा-चढ़ा मानते हैं, किन्तु भीतर-भीतर वे पूर्णतया प्रकृति के गुणों के अधीन रहते हैं, जिन्हें जीत पाना कठिन है। ज्ञान की दृष्टि से कोई कितना ही विद्वान् क्यों न हो, किन्तु भौतिक प्रकृति की दीर्घकालीन संगति के कारण वह बन्धन में रहता है। कृष्णभावनामृत उसे भौतिक बन्धन से छूटने में सहायक होता है, भले ही कोई अपने नियतकर्मों के करने में संलग्न क्यों न रहे। अतः पूर्णतया कृष्णभावनाभावित हुए बिना नियतकर्मों का परित्याग नहीं करना चाहिए। किसी को भी सहसा अपने नियतकर्म त्यागकर तथाकथित योगी या कृत्रिम अध्यात्मवादी नहीं बन जाना चाहिए। अच्छा तो यह होगा कि यथास्थिति में रहकर श्रेष्ठ प्रशिक्षण के अन्तर्गत कृष्णभावनामृत प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाय। इस प्रकार कृष्ण की माया के बन्धन से मुक्त हुआ जा सकता है।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥ ३४॥

इन्द्रियस्य–इन्द्रिय का; **इन्द्रियस्य-अर्थे**–इन्द्रियविषयों में; **राग**–आसक्ति; **द्वेषौ**–तथा विरक्ति; **व्यवस्थितौ**–नियमों के अधीन स्थित; **तयोः**–उनके; **न**–कभी नहीं; **वशम्**–नियन्त्रण में; **आगच्छेत्**–आना चाहिए; **तौ**–वे दोनों; **हि**–निश्चय ही; **अस्य**–उसका; **परिपन्थिनौ**–अवरोधक।

प्रत्येक इन्द्रिय तथा उसके विषय से सम्बन्धित राग-द्वेष को व्यवस्थित करने के नियम होते हैं। मनुष्य को ऐसे राग तथा द्वेष के वशीभूत नहीं होना चाहिए क्योंकि ये आत्म-साक्षात्कार के मार्ग में अवरोधक हैं।

तात्पर्य : जो लोग कृष्णभावनाभावित हैं, वे स्वभाव से भौतिक इन्द्रियतृप्ति में रत होने में झिझकते हैं। किन्तु जिन लोगों की ऐसी भावना न हो उन्हें शास्त्रों के यम-नियमों का पालन करना चाहिए। अनियन्त्रित इन्द्रिय-भोग ही भौतिक बन्धन का कारण है, किन्तु जो शास्त्रों के यम-नियमों का पालन करता है, वह इन्द्रिय-विषयों में नहीं फँसता। उदाहरणार्थ, यौन-सुख बद्धजीव के लिए आवश्यक है और विवाह-सम्बन्ध के अन्तर्गत यौन-सुख की छूट दी जाती है। शास्त्रीय आदेशों के अनुसार अपनी पत्नी के अतिरिक्त अन्य किसी स्त्री के साथ यौन-सम्बन्ध वर्जित है, अन्य सभी स्त्रियों को अपनी माता

मानना चाहिए। किन्तु इन आदेशों के होते हुए भी मनुष्य अन्य स्त्रियों के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है। इन प्रवृत्तियों को दमित करना होगा अन्यथा वे आत्म-साक्षात्कार के मार्ग में बाधक होंगी। जब तक यह भौतिक शरीर रहता है तब तक शरीर की आवश्यकताओं को यम-नियमों के अन्तर्गत पूर्ण करने की छूट दी जाती है। किन्तु फिर भी हमें ऐसी छूटों के नियन्त्रण पर विश्वास नहीं करना चाहिए। मनुष्य को अनासक्त रहकर इन यम-नियमों का पालन करना होता है, क्योंकि नियमों के अन्तर्गत इन्द्रियतृप्ति का अभ्यास भी उसे पथभ्रष्ट कर सकता है, जिस प्रकार कि राजमार्ग तक में दुर्घटना की सम्भावना बनी रहती है। भले ही इन मार्गों की कितनी ही सावधानी से देखभाल क्यों न की जाय, किन्तु इसकी कोई गारन्टी नहीं दे सकता कि सबसे सुरक्षित मार्ग पर भी कोई खतरा नहीं होगा। भौतिक संगति के कारण अत्यन्त दीर्घ काल से इन्द्रिय-सुख की भावना कार्य करती रही है। अतः नियमित इन्द्रिय-भोग के बावजूद भी च्युत होने की हर सम्भावना बनी रहती है, अतः सभी प्रकार से नियमित इन्द्रिय-भोग के लिए किसी भी आसक्ति से बचना चाहिए। लेकिन कृष्णभावनामृत ऐसा है कि इसके प्रति आसक्ति से या सदैव कृष्ण की प्रेमाभक्ति में कार्य करते रहने से सभी प्रकार के ऐन्द्रिय कार्यों से विरक्ति हो जाती है। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह किसी भी अवस्था में कृष्णभावनामृत से विरक्त होने की चेष्टा न करे। समस्त प्रकार की इन्द्रिय-आसक्ति से विरक्ति का उद्देश्य अन्ततः कृष्णभावनामृत के पद पर आसीन होना है।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥ ३५॥

श्रेयान्—अधिक श्रेयस्कर; **स्वधर्मः**—अपने नियतकर्म; **विगुणः**—दोषयुक्त भी; **पर-धर्मात्**—अन्यों के लिए उल्लिखित कार्यों की अपेक्षा; **सु-अनुष्ठितात्**—भलीभाँति सम्पन्न; **स्व-धर्मे**—अपने नियतकर्मों में; **निधनम्**—विनाश, मृत्यु; **श्रेयः**—श्रेष्ठतर; **पर-धर्मः**—अन्यों के लिए नियतकर्म; **भय-आवहः**—खतरनाक, डरावना।

अपने नियतकर्मों को दोषपूर्ण ढंग से सम्पन्न करना भी अन्य के कर्मों को भलीभाँति करने से श्रेयस्कर है। स्वीय कर्मों को करते हुए मरना पराये कर्मों में प्रवृत्त होने की अपेक्षा श्रेष्ठतर है, क्योंकि अन्य किसी के मार्ग का अनुसरण भयावह होता है।

तात्पर्य : अतः मनुष्य को चाहिए कि वह अन्यों के लिए नियतकर्मों की अपेक्षा अपने नियतकर्मों को कृष्णभावनामृत में करे। भौतिक दृष्टि से नियतकर्म मनुष्य की मनोवैज्ञानिक दशा के अनुसार भौतिक प्रकृति के गुणों के अधीन आदिष्ट कर्म हैं। आध्यात्मिक कर्म गुरु द्वारा कृष्ण की दिव्यसेवा के लिए आदेशित होते हैं। किन्तु चाहे भौतिक कर्म हों या आध्यात्मिक कर्म, मनुष्य को मृत्युपर्यन्त अपने नियतकर्मों में दृढ रहना चाहिए। अन्य के निर्धारित कर्मों का अनुकरण नहीं करना चाहिए। आध्यात्मिक तथा भौतिक स्तरों पर ये कर्म भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, किन्तु कर्ता के लिए किसी प्रामाणिक निर्देशन के पालन का सिद्धान्त उत्तम होगा। जब मनुष्य प्रकृति के गुणों के

वशीभूत हो तो उसे उस विशेष अवस्था के लिए नियमों का पालन करना चाहिए, उसे अन्यों का अनुकरण नहीं करना चाहिए। उदाहरणार्थ, सतोगुणी ब्राह्मण कभी हिंसक नहीं होता, किन्तु रजोगुणी क्षत्रिय को हिंसक होने की अनुमति है। इस तरह क्षत्रिय के लिए हिंसा के नियमों का पालन करते हुए विनष्ट होना जितना श्रेयस्कर है उतना अहिंसा के नियमों का पालन करने वाले ब्राह्मण का अनुकरण नहीं। हर व्यक्ति को एकाएक नहीं, अपितु क्रमशः अपने हृदय को स्वच्छ बनाना चाहिए। किन्तु जब मनुष्य प्रकृति के गुणों को लाँघकर कृष्णभावनामृत में पूर्णतया लीन हो जाता है, तो वह प्रामाणिक गुरु के निर्देशन में सब कुछ कर सकता है। कृष्णभावनामृत की पूर्ण स्थिति में एक क्षत्रिय ब्राह्मण की तरह और एक ब्राह्मण क्षत्रिय की तरह कर्म कर सकता है। दिव्य अवस्था में भौतिक जगत् का भेदभाव नहीं रह जाता। उदाहरणार्थ, विश्वामित्र मूलतः क्षत्रिय थे, किन्तु बाद में वे ब्राह्मण हो गये। इसी प्रकार परशुराम पहले ब्राह्मण थे, किन्तु बाद में वे क्षत्रिय बन गये। ब्रह्म में स्थित होने के कारण ही वे ऐसा कर सके, किन्तु जब तक कोई भौतिक स्तर पर रहता है, उसे प्रकृति के गुणों के अनुसार अपने कर्म करने चाहिए। साथ ही उसे कृष्णभावनामृत का पूरा बोध होना चाहिए।

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः।। ३६।।

अर्जुनः उवाच—अर्जुन ने कहा; **अथ**—तब; **केन**—किस के द्वारा; **प्रयुक्तः**—प्रेरित; **अयम्**—यह; **पापम्**—पाप; **चरति**—करता है; **पूरुषः**—व्यक्ति; **अनिच्छन्**—न चाहते हुए; **अपि**—यद्यपि; **वार्ष्णेय**—हे वृष्णिवंशी; **बलात्**—बलपूर्वक; **इव**—मानो; **नियोजितः**—लगाया गया।

अर्जुन ने कहा—हे वृष्णिवंशी! मनुष्य न चाहते हुए भी पापकर्मों के लिए प्रेरित क्यों होता है? ऐसा लगता है कि उसे बलपूर्वक उनमें लगाया जा रहा हो।

तात्पर्य : जीवात्मा परमेश्वर का अंश होने के कारण मूलतः आध्यात्मिक, शुद्ध एवं समस्त भौतिक कल्मषों से मुक्त रहता है। फलतः स्वभाव से वह भौतिक जगत् के पापों में प्रवृत्त नहीं होता। किन्तु जब वह माया के संसर्ग में आता है, तो वह बिना झिझक के और कभी-कभी इच्छा के विरुद्ध भी अनेक प्रकार से पापकर्म करता है। अतः कृष्ण से अर्जुन का प्रश्न अत्यन्त प्रत्याशापूर्ण है कि जीवों की प्रकृति विकृत क्यों हो जाती है। यद्यपि कभी-कभी जीव कोई पाप नहीं करना चाहता, किन्तु उसे ऐसा करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। किन्तु ये पापकर्म अन्तर्यामी परमात्मा द्वारा प्रेरित नहीं होते अपितु अन्य कारण से होते हैं, जैसा कि भगवान् अगले श्लोक में बताते हैं।

श्री भगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।। ३७।।

श्री-भगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; **कामः**—विषयवासना; **एषः**—यह; **क्रोधः**—क्रोध; **एषः**—यह; **रजो-गुण**—रजोगुण से; **समुद्भवः**—उत्पन्न; **महा-अशनः**—सर्वभक्षी; **महा-पाप्मा**—महान पापी; **विद्धि**—जानो; **एनम्**—इसे; **इह**—इस संसार में; **वैरिणम्**—महान शत्रु।

श्रीभगवान् ने कहा—हे अर्जुन! इसका कारण रजोगुण के सम्पर्क से उत्पन्न काम है, जो बाद में क्रोध का रूप धारण करता है और जो इस संसार का सर्वभक्षी पापी शत्रु है।

तात्पर्य : जब जीवात्मा भौतिक सृष्टि के सम्पर्क में आता है तो उसका शाश्वत कृष्ण-प्रेम रजोगुण की संगति से काम में परिणत हो जाता है। अथवा दूसरे शब्दों में, ईश्वर-प्रेम का भाव काम में उसी तरह बदल जाता है जिस तरह इमली के संसर्ग से दूध दही में बदल जाता है और जब काम की संतुष्टि नहीं होती तो यह क्रोध में परिणत हो जाता है, क्रोध मोह में और मोह इस संसार में निरन्तर बना रहता है। अतः जीवात्मा का सबसे बड़ा शत्रु काम है और यह काम ही है जो विशुद्ध जीवात्मा को इस संसार में फँसे रहने के लिए प्रेरित करता है। क्रोध तमोगुण का प्राकट्य है। ये गुण अपने आपको क्रोध तथा अन्य रूपों में प्रकट करते हैं। अतः यदि रहने तथा कार्य करने की विधियों द्वारा रजोगुण को तमोगुण में न गिरने देकर सतोगुण तक ऊपर उठाया जाय तो मनुष्य को क्रोध में पतित होने से आध्यात्मिक आसक्ति के द्वारा बचाया जा सकता है।

अपने नित्य वर्धमान चिदानन्द के लिए भगवान् ने अपने आपको अनेक रूपों में विस्तारित कर लिया और जीवात्माएँ उनके इस चिदानन्द के ही अंश हैं। उनको भी आंशिक स्वतन्त्रता प्राप्त है, किन्तु अपनी इस स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करके जब वे सेवा को इन्द्रियसुख में बदल देती हैं तो वे काम की चपेट में आ जाती हैं। भगवान् ने इस सृष्टि की रचना जीवात्माओं के लिए इन कामपूर्ण रुचियों की पूर्ति हेतु सुविधा प्रदान करने के निमित्त की और जब जीवात्माएँ दीर्घकाल तक काम-कर्मों में फँसे रहने के कारण पूर्णतया ऊब जाती हैं, तो वे अपना वास्तविक स्वरूप जानने के लिए जिज्ञासा करने लगती हैं।

यही जिज्ञासा वेदान्त-सूत्र का प्रारम्भ है जिसमें यह कहा गया है—*अथातो ब्रह्मजिज्ञासा*—मनुष्य को परम तत्त्व की जिज्ञासा करनी चाहिए। और इस परम तत्त्व की परिभाषा *श्रीमद्भागवत* में इस प्रकार दी गई है—*जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्च*—सारी वस्तुओं का उद्गम परब्रह्म है। अतः काम का उद्गम भी परब्रह्म से हुआ। अतः यदि काम को भगवत्प्रेम में या कृष्णभावना में परिणत कर दिया जाय, या दूसरे शब्दों में कृष्ण के लिए ही सारी इच्छाएँ हों तो काम तथा क्रोध दोनों ही आध्यात्मिक बन सकेंगे। भगवान् राम के अनन्य सेवक हनुमान ने रावण की स्वर्णपुरी को जलाकर अपना क्रोध प्रकट किया, किन्तु ऐसा करने से वे भगवान् के सबसे बड़े भक्त बन गये। यहाँ पर भी श्रीकृष्ण अर्जुन को प्रेरित करते हैं कि वह शत्रुओं पर अपना क्रोध भगवान् को प्रसन्न करने के लिए दिखाए। अतः काम तथा क्रोध कृष्णभावनामृत में प्रयुक्त होने पर हमारे शत्रु न रह कर मित्र बन जाते हैं।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥ ३८॥

धूमेन—धुएँ से; **आव्रियते**—ढक जाती है; **वह्निः**—अग्नि; **यथा**—जिस प्रकार; **आदर्शः**—शीशा, दर्पण; **मलेन**—धूल से; **च**—भी; **यथा**—जिस प्रकार; **उल्बेन**—गर्भाशय द्वारा; **आवृतः**—ढका रहता है; **गर्भः**—भ्रूण, गर्भ; **तथा**—उसी प्रकार; **तेन**—काम से; **इदम्**—यह; **आवृतम्**—ढका है।

जिस प्रकार अग्नि धुएँ से, दर्पण धूल से अथवा भ्रूण गर्भाशय से आवृत रहता है, उसी प्रकार जीवात्मा इस काम की विभिन्न मात्राओं से आवृत रहता है।

तात्पर्य : जीवात्मा के आवरण की तीन कोटियाँ हैं जिनसे उसकी शुद्ध चेतना धूमिल होती है। यह आवरण काम ही है जो विभिन्न स्वरूपों में होता है यथा अग्नि में धुआँ, दर्पण पर धूल तथा भ्रूण पर गर्भाशय। जब काम की उपमा धूम्र से दी जाती है तो यह समझना चाहिए कि जीवित स्फुलिंग की अग्नि कुछ-कुछ अनुभवगम्य है। दूसरे शब्दों में, जब जीवात्मा अपने कृष्णभावनामृत को कुछ-कुछ प्रकट करता है तो उसकी उपमा धुएँ से आवृत अग्नि से दी जा सकती है। यद्यपि जहाँ कहीं धुआँ होता है वहाँ अग्नि का होना अनिवार्य है, किन्तु प्रारम्भिक अवस्था में अग्नि की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति नहीं होती। यह अवस्था कृष्णभावनामृत के शुभारम्भ जैसी है। दर्पण पर धूल का उदाहरण मन रूपी दर्पण को अनेकानेक आध्यात्मिक विधियों से स्वच्छ करने की प्रक्रिया के समान है। इसकी सर्वश्रेष्ठ विधि है—भगवान् के पवित्र नाम का संकीर्तन। गर्भाशय द्वारा आवृत भ्रूण का दृष्टान्त असहाय अवस्था से दिया गया है, क्योंकि गर्भ-स्थित शिशु इधर-उधर हिलने के लिए भी स्वतन्त्र नहीं रहता। जीवन की यह अवस्था वृक्षों के समान है। वृक्ष भी जीवात्माएँ हैं, किन्तु उनमें काम की प्रबलता को देखते हुए उन्हें ऐसी योनि मिली है कि वे प्रायः चेतनाशून्य होते हैं। धूमिल दर्पण पशु-पक्षियों के समान है और धूम्र से आवृत अग्नि मनुष्य के समान है। मनुष्य के रूप में जीवात्मा में थोड़ा बहुत कृष्णभावनामृत का उदय होता है और यदि वह और प्रगति करता है तो आध्यात्मिक जीवन की अग्नि मनुष्य जीवन में प्रज्ज्वलित हो सकती है। यदि अग्नि के धुएँ को ठीक से नियन्त्रित किया जाय तो अग्नि जल सकती है, अतः यह मनुष्य जीवन जीवात्मा के लिए ऐसा सुअवसर है जिससे वह संसार के बन्धन से छूट सकता है। मनुष्य जीवन में काम रूपी शत्रु को योग्य निर्देशन में कृष्णभावनामृत के अनुशीलन द्वारा जीता जा सकता है।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥ ३९॥

आवृतम्—ढका हुआ; **ज्ञानम्**—शुद्ध चेतना; **एतेन**—इससे; **ज्ञानिनः**—ज्ञाता का; **नित्य-वैरिणा**—नित्य शत्रु द्वारा; **काम-रूपेण**—काम के रूप में; **कौन्तेय**—हे कुन्तीपुत्र; **दुष्पूरेण**—कभी भी तुष्ट न होने वाली; **अनलेन**—अग्नि द्वारा; **च**—भी।

इस प्रकार ज्ञानमय जीवात्मा की शुद्ध चेतना उसके काम रूपी नित्य शत्रु से ढकी

रहती है जो कभी भी तुष्ट नहीं होता और अग्नि के समान जलता रहता है।

तात्पर्य : मनुस्मृति में कहा गया है कि कितना भी विषय-भोग क्यों न किया जाय काम की तृप्ति नहीं होती, जिस प्रकार कि निरन्तर ईंधन डालने से अग्नि कभी नहीं बुझती। भौतिक जगत् में समस्त कार्यकलापों का केन्द्रबिन्दु मैथुन (कामसुख) है, अतः इस जगत् को *मैथुन्य-आगार* या विषयी-जीवन की हथकड़ियाँ कहा गया है। एक सामान्य बन्दीगृह में अपराधियों को छड़ों के भीतर रखा जाता है इसी प्रकार जो अपराधी भगवान् के नियमों की अवज्ञा करते हैं, वे मैथुन-जीवन द्वारा बन्दी बनाये जाते हैं। इन्द्रियतृप्ति के आधार पर भौतिक सभ्यता की प्रगति का अर्थ है, इस जगत् में जीवात्मा की बन्धन अवधि को बढ़ाना। अतः यह काम अज्ञान का प्रतीक है जिसके द्वारा जीवात्मा को इस संसार में रखा जाता है। इन्द्रियतृप्ति का भोग करते समय हो सकता है कि कुछ प्रसन्नता की अनुभूति हो, किन्तु यह प्रसन्नता की अनुभूति ही इन्द्रियभोक्ता का चरम शत्रु है।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥ ४०॥

इन्दियाणि–इन्द्रियाँ; **मनः**–मन; **बुद्धिः**–बुद्धि; **अस्य**–इस काम का; **अधिष्ठानम्**–निवासस्थान; **उच्यते**–कहा जाता है; **एतैः**–इन सबों से; **विमोहयति**–मोहग्रस्त करता है; **एषः**–यह काम; **ज्ञानम्**–ज्ञान को; **आवृत्य**–ढक कर; **देहिनम्**–शरीरधारी को।

इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि इस काम के निवासस्थान हैं। इनके द्वारा यह काम जीवात्मा के वास्तविक ज्ञान को ढक कर उसे मोहित कर लेता है।

तात्पर्य : चूँकि शत्रु ने बद्धजीव के शरीर के विभिन्न सामरिक स्थानों पर अपना अधिकार कर लिया है, अतः भगवान् कृष्ण उन स्थानों का संकेत कर रहे हैं जिससे शत्रु को जीतने वाला यह जान ले कि शत्रु कहाँ पर है। मन समस्त इन्द्रियों के कार्यकलापों का केन्द्रबिन्दु है, अतः जब हम इन्द्रिय-विषयों के सम्बन्ध में सुनते हैं तो मन इन्द्रियतृप्ति के समस्त भावों का आगार बन जाता है। इस तरह मन तथा इन्द्रियाँ काम की शरणस्थली बन जाते हैं। इसके बाद बुद्धि ऐसी कामपूर्ण रुचियों की राजधानी बन जाती है। बुद्धि आत्मा की निकट पड़ोसन है। काममय बुद्धि से आत्मा प्रभावित होता है जिससे उसमें अहंकार उत्पन्न होता है और वह पदार्थ से तथा इस प्रकार मन तथा इन्द्रियों से अपना तादात्म्य कर लेता है। आत्मा को भौतिक इन्द्रियों का भोग करने की लत पड़ जाती है जिसे वह वास्तविक सुख मान बैठता है। *श्रीमद्भागवत* में (१०.८४.१३) आत्मा के इस मिथ्या स्वरूप की अत्युत्तम विवेचना की गई है—

यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचिज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः॥

"जो मनुष्य इस त्रिधातु निर्मित शरीर को आत्मस्वरूप जान बैठता है, जो देह के विकारों को स्वजन समझता है, जो जन्मभूमि को पूज्य मानता है और जो तीर्थस्थलों की यात्रा दिव्यज्ञान वाले पुरुष से भेंट करने के लिए नहीं, अपितु स्नान करने के लिए

करता है उसे गधा या बैल के समान समझना चाहिए।"

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥ ४१॥

तस्मात्—अतः; **त्वम्**—तुम; **इन्द्रियाणि**—इन्द्रियों को; **आदौ**—प्रारम्भ में; **नियम्य**—नियमित करके; **भरत-ऋषभ**—हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ; **पाप्मानम्**—पाप के महान प्रतीक को; **प्रजहि**—दमन करो; **हि**—निश्चय ही; **एनम्**—इस; **ज्ञान**—ज्ञान; **विज्ञान**—तथा शुद्ध आत्मा के वैज्ञानिक ज्ञान का; **नाशनम्**—संहर्ता, विनाश करने वाला।

इसलिए हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन! प्रारम्भ में ही इन्द्रियों को वश में करके इस पाप के महान प्रतीक (काम) का दमन करो और ज्ञान तथा आत्म-साक्षात्कार के इस विनाशकर्ता का वध करो।

तात्पर्य : भगवान् ने अर्जुन को प्रारम्भ से ही इन्द्रिय-संयम करने का उपदेश दिया जिससे वह सबसे पापी शत्रु काम का दमन कर सके जो आत्म-साक्षात्कार तथा आत्मज्ञान की उत्कंठा को विनष्ट करने वाला है। ज्ञान का अर्थ है आत्म तथा अनात्म के भेद का बोध अर्थात् यह ज्ञान कि आत्मा शरीर नहीं है। विज्ञान से आत्मा की स्वाभाविक स्थिति तथा परमात्मा के साथ उसके सम्बन्ध का विशिष्ट ज्ञान सूचित होता है। *श्रीमद्भागवत* में (२.९.३१) इसकी विवेचना इस प्रकार हुई है—

ज्ञानं परमगुह्यं मे यद्विज्ञानसमन्वितम्।
सरहस्यं तदङ्गं च गृहाण गदितं मया॥

"आत्मा तथा परमात्मा का ज्ञान अत्यन्त गुह्य एवं रहस्यमय है, किन्तु जब स्वयं भगवान् द्वारा इसके विविध पक्षों की विवेचना की जाती है तो ऐसा ज्ञान तथा विज्ञान समझा जा सकता है।" *भगवद्गीता* हमें आत्मा का सामान्य तथा विशिष्ट ज्ञान (ज्ञान तथा विज्ञान) प्रदान करती है। जीव भगवान् के भिन्न अंश हैं, अतः वे भगवान् की सेवा के लिए हैं। यह चेतना कृष्णभावनामृत कहलाती है। अतः मनुष्य को जीवन के प्रारम्भ से इस कृष्णभावनामृत को सीखना होता है, जिससे वह पूर्णतया कृष्णभावनाभावित होकर तदनुसार कर्म करे।

काम ईश्वर-प्रेम का विकृत प्रतिबिम्ब है और प्रत्येक जीव के लिए स्वाभाविक है। किन्तु यदि किसी को प्रारम्भ से ही कृष्णभावनामृत की शिक्षा दी जाय तो प्राकृतिक ईश्वर-प्रेम काम के रूप में विकृत नहीं हो सकता। एक बार ईश्वर-प्रेम के काम रूप में विकृत हो जाने पर इसके मौलिक स्वरूप को पुनः प्राप्त कर पाना दुःसाध्य हो जाता है। फिर भी, कृष्णभावनामृत इतना शक्तिशाली होता है कि विलम्ब से प्रारम्भ करने वाला भी भक्ति के विधि-विधानों का पालन करके ईश्वरप्रेमी बन सकता है। अतः जीवन की किसी भी अवस्था में, या जब भी इसकी अनिवार्यता समझी जाए, मनुष्य कृष्णभावनामृत या भगवद्भक्ति के द्वारा इन्द्रियों को वश में करना प्रारम्भ कर सकता है और काम को भगवत्प्रेम में बदल सकता है, जो मानव जीवन की पूर्णता की चरम

अवस्था है।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥ ४२॥

इन्द्रियाणि—इन्द्रियों को; **पराणि**—श्रेष्ठ; **आहुः**—कहा जाता है; **इन्द्रियेभ्यः**—इन्द्रियों से बढ़कर; **परम्**—श्रेष्ठ; **मनः**—मन; **मनसः**—मन की अपेक्षा; **तु**—भी; **परा**—श्रेष्ठ; **बुद्धिः**—बुद्धि; **यः**—जो; **बुद्धेः**—बुद्धि से भी; **परतः**—श्रेष्ठ; **तु**—किन्तु; **सः**—वह।

कर्मेन्द्रियाँ जड़ पदार्थ की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं, मन इन्द्रियों से बढ़कर है, बुद्धि मन से भी उच्च है और वह (आत्मा) बुद्धि से भी बढ़कर है।

तात्पर्य : इन्द्रियाँ काम के कार्यकलापों के विभिन्न द्वार हैं। काम का निवास शरीर में है, किन्तु उसे इन्द्रिय रूपी झरोखे प्राप्त हैं। अतः कुल मिलाकर इन्द्रियाँ शरीर से श्रेष्ठ हैं। श्रेष्ठ चेतना या कृष्णभावनामृत होने पर ये द्वार काम में नहीं आते। कृष्णभावनामृत में आत्मा भगवान् के साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित करता है, अतः यहाँ पर वर्णित शारीरिक कार्यों की श्रेष्ठता परमात्मा में आकर समाप्त हो जाती है। शारीरिक कर्म का अर्थ है--इन्द्रियों के कार्य और इन इन्द्रियों के अवरोध का अर्थ है—सारे शारीरिक कर्मों का अवरोध। लेकिन चूँकि मन सक्रिय रहता है, अतः शरीर के मौन तथा स्थिर रहने पर भी मन कार्य करता रहता है—यथा स्वप्न के समय मन कार्यशील रहता है। किन्तु मन के ऊपर भी बुद्धि की संकल्पशक्ति होती है और बुद्धि के भी ऊपर स्वयं आत्मा है। अतः यदि आत्मा प्रत्यक्ष रूप में परमात्मा में रत रहे तो अन्य सारे अधीनस्थ—यथा—बुद्धि, मन तथा इन्द्रियाँ—स्वतः रत हो जायेंगे। *कठोपनिषद्* में एक ऐसा ही अंश है जिसमें कहा गया है कि इन्द्रिय-विषय इन्द्रियों से श्रेष्ठ हैं और मन इन्द्रिय-विषयों से श्रेष्ठ है। अतः यदि मन भगवान् की सेवा में निरन्तर लगा रहता है तो इन इन्द्रियों के अन्यत्र रत होने की सम्भावना नहीं रह जाती। इस मनोवृत्ति की विवेचना की जा चुकी है। *परं दृष्ट्वा निवर्तते*—यदि मन भगवान् की दिव्य सेवा में लगा रहे तो तुच्छ विषयों में उसके लग पाने की सम्भावना नहीं रह जाती। कठोपनिषद् में आत्मा को महान कहा गया है। अतः आत्मा इन्द्रिय-विषयों, इन्द्रियों, मन तथा बुद्धि—इन सबके ऊपर है। अतः सारी समस्या का हल यह है कि आत्मा के स्वरूप को प्रत्यक्ष समझा जाय।

मनुष्य को चाहिए कि बुद्धि के द्वारा आत्मा की स्वाभाविक स्थिति को ढूँढे और फिर मन को निरन्तर कृष्णभावनामृत में लगाये रखे। इससे सारी समस्या हल हो जाती है। सामान्यतः नवदीक्षित अध्यात्मवादी को इन्द्रिय-विषयों से दूर रहने की सलाह दी जाती है। किन्तु इसके साथ-साथ मनुष्य को अपनी बुद्धि का उपयोग करके मन को सशक्त बनाना होता है। यदि कोई बुद्धिपूर्वक अपने मन को भगवान् के शरणागत होकर कृष्णभावनामृत में लगाता है, तो मन स्वतः सशक्त हो जाता है और यद्यपि इन्द्रियाँ सर्प के समान अत्यन्त बलिष्ठ होती हैं, किन्तु ऐसा करने पर वे दन्त-विहीन साँपों के समान अशक्त हो जाएँगी। यद्यपि आत्मा बुद्धि, मन तथा इन्द्रियों का भी स्वामी है तो भी जब तक इसे कृष्ण की संगति द्वारा कृष्णभावनामृत में सुदृढ नहीं कर लिया जाता तब तक

चलायमान मन के कारण नीचे गिरने की पूरी पूरी सम्भावना बनी रहती है।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥ ४३॥

एवम्—इस प्रकार; **बुद्धेः**—बुद्धि से; **परम्**—श्रेष्ठ; **बुद्ध्वा**—जानकर; **संस्तभ्य**—स्थिर करके; **आत्मानम्**—मन को; **आत्मना**—सुविचारित बुद्धि द्वारा; **जहि**—जीतो; **शत्रुम्**—शत्रु को; **महा-बाहो**—हे महाबाहु; **काम-रूपम्**—काम के रूप में; **दुरासदम्**—दुर्जेय।

इस प्रकार हे महाबाहु अर्जुन! अपने आपको भौतिक इन्द्रियों, मन तथा बुद्धि से परे जान कर और मन को सावधान आध्यात्मिक बुद्धि (कृष्णभावनामृत) से स्थिर करके आध्यात्मिक शक्ति द्वारा इस काम-रूपी दुर्जेय शत्रु को जीतो।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* का यह तृतीय अध्याय निष्कर्षतः मनुष्य को निर्देश देता है कि वह निर्विशेष शून्यवाद को चरम-लक्ष्य न मान कर अपने आपको भगवान् का शाश्वत सेवक समझते हुए कृष्णभावनामृत में प्रवृत्त हो। भौतिक जीवन में मनुष्य काम तथा प्रकृति पर प्रभुत्व पाने की इच्छा से प्रभावित होता है। प्रभुत्व तथा इन्द्रियतृप्ति की इच्छाएँ बद्धजीव की परम शत्रु हैं, किन्तु कृष्णभावनामृत की शक्ति से मनुष्य इन्द्रियों, मन तथा बुद्धि पर नियन्त्रण रख सकता है। इसके लिए मनुष्य को सहसा अपने नियतकर्मों को बन्द करने की आवश्यकता नहीं है, अपितु धीरे-धीरे कृष्णभावनामृत विकसित करके भौतिक इन्द्रियों तथा मन से प्रभावित हुए बिना अपने शुद्ध स्वरूप के प्रति लक्षित स्थिर बुद्धि से दिव्य स्थिति को प्राप्त हुआ जा सकता है। यही इस अध्याय का सारांश है। सांसारिक जीवन की अपरिपक्व अवस्था में दार्शनिक चिन्तन तथा यौगिक आसनों के अभ्यास से इन्द्रियों को वश में करने के कृत्रिम प्रयासों से आध्यात्मिक जीवन प्राप्त करने में सहायता नहीं मिलती। उसे श्रेष्ठ बुद्धि द्वारा कृष्णभावनामृत में प्रशिक्षित होना चाहिए।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता *के तृतीय अध्याय "कर्मयोग" का भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुआ।*

अध्याय चार

दिव्य ज्ञान

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥ १॥

श्री-भगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; **इमम्**—इस; **विवस्वते**—सूर्यदेव को; **योगम्**—परमेश्वर के साथ अपने सम्बन्ध की विद्या को; **प्रोक्तवान्**—उपदेश दिया; **अहम्**—मैंने; **अव्ययम्**—अमर; **विवस्वान्**—विवस्वान् (सूर्यदेव का नाम) ने; **मनवे**—मनुष्यों के पिता (वैवस्वत) से; **प्राह**—कहा; **मनुः**—मनुष्यों के पिता ने; **इक्ष्वाकवे**—राजा इक्ष्वाकु से; **अब्रवीत्**—कहा।

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—मैंने इस अमर योगविद्या का उपदेश सूर्यदेव विवस्वान् को दिया और विवस्वान् ने मनुष्यों के पिता मनु को उपदेश दिया और मनु ने इसका उपदेश इक्ष्वाकु को दिया।

तात्पर्य : यहाँ पर हमें *भगवद्गीता* का इतिहास प्राप्त होता है। यह अत्यन्त प्राचीन बताया गया है, जब इसे सूर्यलोक इत्यादि सम्पूर्ण लोकों के राजा को प्रदान किया गया था। समस्त लोकों के राजा विशेष रूप से निवासियों की रक्षा के निमित्त होते हैं, अतः

राजन्यवर्ग को *भगवद्गीता* की विद्या को समझना चाहिए जिससे वे नागरिकों (प्रजा) पर शासन कर सकें और उन्हें काम-रूपी भवबन्धन से बचा सकें। मानव जीवन का उद्देश्य भगवान् के साथ अपने शाश्वत सम्बन्ध के आध्यात्मिक ज्ञान का विकास है और सारे राज्यों तथा समस्त लोकों के शासनाध्यक्षों को चाहिए कि शिक्षा, संस्कृति तथा भक्ति द्वारा नागरिकों को यह पाठ पढ़ाएँ। दूसरे शब्दों में, सारे राज्य के शासनाध्यक्ष कृष्णभावनामृत विद्या का प्रचार करने के लिए होते हैं, जिससे जनता इस महाविद्या का लाभ उठा सके और मनुष्य जीवन के अवसर का लाभ उठाते हुए सफल मार्ग का अनुसरण कर सके।

इस मन्वन्तर में सूर्यदेव विवस्वान् कहलाता है यानी सूर्य का राजा , जो सौरमंडल के अन्तर्गत समस्त ग्रहों (लोकों) का उद्गम है। *ब्रह्मसंहिता* में (५.५२) कहा गया है—

यच्चक्षुरेष सविता सकलग्रहाणां राजा समस्तसुरमूर्तिरशेषतेजाः।
यस्याज्ञया भ्रमति सम्भृतकालचक्रो गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

ब्रह्माजी ने कहा, "मैं उन श्रीभगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो आदि पुरुष हैं और जिनके आदेश से समस्त लोकों का राजा सूर्य प्रभूत शक्ति तथा ऊष्मा धारण करता है। यह सूर्य भगवान् के नेत्र तुल्य है और यह उनकी आज्ञानुसार अपनी कक्षा को तय करता है।"

सूर्य सभी लोकों का राजा है तथा सूर्यदेव (विवस्वान्) सूर्य ग्रह पर शासन करता है, जो ऊष्मा तथा प्रकाश प्रदान करके अन्य समस्त लोकों को अपने नियन्त्रण में रखता है। सूर्य कृष्ण के आदेश पर घूमता है और भगवान् कृष्ण ने विवस्वान् को *भगवद्गीता* की विद्या समझाने के लिए अपना पहला शिष्य चुना। अतः *गीता* किसी मामूली सांसारिक विद्यार्थी के लिए कोई काल्पनिक भाष्य नहीं, अपितु ज्ञान का मानक ग्रंथ है, जो अनन्त काल से चला आ रहा है।

महाभारत में (*शान्ति पर्व* ३४८.५१-५२) हमें *गीता* का इतिहास इस रूप में प्राप्त होता है—

त्रेतायुगादौ च ततो विवस्वान्मनवे ददौ।
मनुश्च लोकभृत्यर्थं सुतायेक्ष्वाकवे ददौ।
इक्ष्वाकुणा च कथितो व्याप्य लोकानवस्थितः॥

"त्रेतायुग के आदि में विवस्वान् ने परमेश्वर सम्बन्धी इस विज्ञान का उपदेश मनु को दिया और मनुष्यों के जनक मनु ने इसे अपने पुत्र इक्ष्वाकु को दिया। इक्ष्वाकु इस पृथ्वी के शासक थे और उस रघुकुल के पूर्वज थे, जिसमें भगवान् श्रीराम ने अवतार लिया।" इससे प्रमाणित होता है कि मानव समाज में महाराज इक्ष्वाकु के काल से ही *भगवद्गीता* विद्यमान थी।

इस समय कलियुग के केवल ५,००० वर्ष व्यतीत हुए हैं जबकि इसकी पूर्णायु ४,३२,००० वर्ष है। इसके पूर्व द्वापरयुग (८,००,००० वर्ष) था और इसके भी पूर्व त्रेतायुग (१२,००,००० वर्ष)था। इस प्रकार लगभग २०,०५,००० वर्ष पूर्व मनु ने अपने शिष्य तथा पुत्र इक्ष्वाकु से जो इस पृथ्वी के राजा थे, *श्रीमद्भगवद्गीता* कही। वर्तमान मनु की आयु लगभग ३०,५३,००,००० वर्ष अनुमानित की जाती है जिसमें से

१२,०४,००,००० वर्ष बीत चुके हैं। यह मानते हुए कि मनु के जन्म के पूर्व भगवान् ने अपने शिष्य सूर्यदेव विवस्वान् को *गीता* सुनाई, मोटा अनुमान यह है कि *गीता* कम से कम १२,०४,००,००० वर्ष पहले कही गई और मानव समाज में यह २० लाख वर्षों से विद्यमान रही। इसे भगवान् ने लगभग ५,००० वर्ष पूर्व अर्जुन से पुनः कहा। *गीता* के अनुसार ही तथा इसके वक्ता भगवान् कृष्ण के कथन के अनुसार यह *गीता* के इतिहास का मोटा अनुमान है। सूर्यदेव विवस्वान् को इसीलिए *गीता* सुनाई गई क्योंकि वह *क्षत्रिय* था और उन समस्त क्षत्रियों का जनक है जो सूर्यवंशी हैं। चूँकि *भगवद्गीता* वेदों के ही समान है क्योंकि इसे श्रीभगवान् ने कहा था, अतः यह ज्ञान अपौरुषेय है। चूँकि वैदिक आदेशों को यथारूप में बिना किसी मानवीय विवेचना के स्वीकार किया जाता है फलतः *गीता* को भी किसी सांसारिक विवेचना के बिना स्वीकार किया जाना चाहिए। संसारी तार्किकजन अपनी-अपनी विधि से *गीता* के विषय में चिन्तन कर सकते हैं, किन्तु यह यथारूप *भगवद्गीता* नहीं है। अतः *भगवद्गीता* को गुरु-परम्परा से यथारूप में ग्रहण करना चाहिए। यहाँ पर यह वर्णन हुआ है कि भगवान् ने इसे सूर्यदेव से कहा, सूर्यदेव ने अपने पुत्र मनु से और मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु से कहा।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप॥ २॥

एवम्—इस प्रकार; **परम्परा**—गुरु-परम्परा से; **प्राप्तम्**—प्राप्त; **इमम्**—इस विज्ञान को; **राज-ऋषयः**—साधु राजाओं ने; **विदुः**—जाना; **सः**—वह ज्ञान; **कालेन**—कालक्रम में; **इह**—इस संसार में; **महता**—महान; **योगः**—परमेश्वर के साथ अपने सम्बन्ध का विज्ञान, योगविद्या; **नष्टः**—छिन्न-भिन्न हो गया; **परन्तप**—हे शत्रुओं को दमन करने वाले, अर्जुन।

इस प्रकार यह परम विज्ञान गुरु-परम्परा द्वारा प्राप्त किया गया और राजर्षियों ने इसी विधि से इसे समझा। किन्तु कालक्रम में यह परम्परा छिन्न हो गई, अतः यह विज्ञान यथारूप में लुप्त हो गया लगता है।

तात्पर्य : यहाँ स्पष्ट कहा गया है कि *गीता* विशेष रूप से राजर्षियों के लिए थी क्योंकि वे इसका उपयोग प्रजा के ऊपर शासन करने में करते थे। निश्चय ही *भगवद्गीता* कभी भी आसुरी पुरुषों के लिए नहीं थी जिनसे किसी को भी इसका लाभ न मिलता और जो अपनी-अपनी सनक के अनुसार विभिन्न प्रकार की विवेचना करते। अतः जैसे ही असाधु भाष्यकारों के निहित स्वार्थों से *गीता* का मूल उद्देश्य उच्छिन्न हुआ वैसे ही पुनः गुरु-परम्परा स्थापित करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। पाँच हजार वर्ष पूर्व भगवान् ने स्वयं देखा कि गुरु-परम्परा टूट चुकी है, अतः उन्होंने घोषित किया कि *गीता* का उद्देश्य नष्ट हो चुका है। इसी प्रकार इस समय *गीता* के इतने संस्करण उपलब्ध हैं (विशेषतया अंग्रेजी में) कि उनमें से प्रायः सभी प्रामाणिक गुरु-परम्परा के अनुसार नहीं हैं। विभिन्न संसारी विद्वानों ने गीता की असंख्य टीकाएँ की हैं, किन्तु वे प्रायः सभी श्रीकृष्ण को स्वीकार नहीं करते, यद्यपि वे कृष्ण के नाम पर अच्छा व्यापार चलाते हैं। यह आसुरी प्रवृत्ति है, क्योंकि असुरगण ईश्वर में विश्वास नहीं करते, वे केवल परमेश्वर के गुणों का

लाभ उठाते हैं। अतएव अंग्रेजी में *गीता* के एक संस्करण की नितान्त आवश्यकता थी जो परम्परा (गुरु-परम्परा) से प्राप्त हो। प्रस्तुत प्रयास इसी आवश्यकता की पूर्ति के उद्देश्य से किया गया है। *भगवद्गीता यथारूप* मानवता के लिए महान वरदान है, किन्तु यदि इसे मानसिक चिन्तन समझा जाय तो यह समय का अपव्यय होगा।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥ ३॥

सः—वही; **एव**—निश्चय ही; **अयम्**—यह; **मया**—मेरे द्वारा; **ते**—तुमसे; **अद्य**—आज; **योगः**—योगविद्या; **प्रोक्तः**—कही गयी; **पुरातनः**—अत्यन्त प्राचीन; **भक्तः**—भक्त; **असि**—हो; **मे**—मेरे; **सखा**—मित्र; **च**—भी; **इति**—अतः; **रहस्यम्**—रहस्य; **हि**—निश्चय ही; **एतत्**—यह; **उत्तमम्**—दिव्य।

आज मेरे द्वारा वही यह प्राचीन योग यानी परमेश्वर के साथ अपने सम्बन्ध का विज्ञान, तुमसे कहा जा रहा है, क्योंकि तुम मेरे भक्त तथा मित्र हो, अतः तुम इस विज्ञान के दिव्य रहस्य को समझ सकते हो।

तात्पर्य : मनुष्यों की दो श्रेणियाँ हैं—भक्त तथा असुर। भगवान् ने अर्जुन को इस विद्या का पात्र इसलिए चुना क्योंकि वह उनका भक्त था। किन्तु असुर के लिए इस परम गुह्यविद्या को समझ पाना सम्भव नहीं है। इस परम ज्ञानग्रंथ के अनेक संस्करण उपलब्ध हैं। इनमें से कुछ भक्तों की टीकाएँ हैं और कुछ असुरों की। जो टीकाएँ भक्तों द्वारा की गई हैं वे वास्तविक हैं, किन्तु जो असुरों द्वारा की गई हैं वे व्यर्थ हैं। अर्जुन श्रीकृष्ण को भगवान् के रूप में मानता है, अतः जो *गीता* भाष्य अर्जुन के पदचिन्हों का अनुसरण करते हुए किया गया है वह इस परमविद्या के पक्ष में वास्तविक सेवा है। किन्तु असुर भगवान् कृष्ण को उस रूप में नहीं मानते। वे कृष्ण के विषय में तरह-तरह की मनगढंत बातें करते हैं और वे कृष्ण के उपदेश-मार्ग से सामान्य जनता को गुमराह करते रहते हैं। ऐसे कुमार्गों से बचने के लिए यह एक चेतावनी है। मनुष्य को चाहिए कि अर्जुन की परम्परा का अनुसरण करे और *श्रीमद्भगवद्गीता* के इस परमविज्ञान से लाभान्वित हो।

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति॥ ४॥

अर्जुनः उवाच—अर्जुन ने कहा; **अपरम्**—अर्वाचीन, कनिष्ठ; **भवतः**—आपका; **जन्म**—जन्म; **परम्**—श्रेष्ठ (ज्येष्ठ); **जन्म**—जन्म; **विवस्वतः**—सूर्यदेव का; **कथम्**—कैसे; **एतत्**—यह; **विजानीयाम्**—मैं समझूँ; **त्वम्**—तुमने; **आदौ**—प्रारम्भ में; **प्रोक्तवान्**—उपदेश दिया; **इति**—इस प्रकार।

अर्जुन ने कहा— सूर्यदेव विवस्वान् आप से पहले हो चुके (ज्येष्ठ) हैं, तो फिर मैं कैसे समझूँ कि प्रारम्भ में भी आपने उन्हें इस विद्या का उपदेश दिया था।

तात्पर्य : जब अर्जुन भगवान् का माना हुआ भक्त है तो फिर उसे कृष्ण के वचनों पर

विश्वास क्यों नहीं हो रहा था? तथ्य यह है कि अर्जुन यह जिज्ञासा अपने लिए नहीं कर रहा है, अपितु यह जिज्ञासा उन सबों के लिए है, जो भगवान् में विश्वास नहीं करते, अथवा उन असुरों के लिए है, जिन्हें यह विचार पसन्द नहीं है कि कृष्ण को भगवान् माना जाय। उन्हीं के लिए अर्जुन यह बात इस तरह पूछ रहा है, मानो वह स्वयं भगवान् या कृष्ण से अवगत न हो। जैसा कि दसवें अध्याय में स्पष्ट हो जाएगा, अर्जुन भलीभाँति जानता था कि कृष्ण श्रीभगवान् हैं और वे प्रत्येक वस्तु के मूलस्रोत हैं तथा ब्रह्म की चरम सीमा हैं। निस्सन्देह, कृष्ण इस पृथ्वी पर देवकी के पुत्र रूप में भी अवतीर्ण हुए। सामान्य व्यक्ति के लिए यह समझ पाना अत्यन्त कठिन है कि कृष्ण किस प्रकार उसी शाश्वत आदिपुरुष श्रीभगवान् के रूप में बने रहे। अतः इस बात को स्पष्ट करने के लिए ही अर्जुन ने कृष्ण से यह प्रश्न पूछा, जिससे वे ही प्रामाणिक रूप में बताएँ। कृष्ण परम प्रमाण हैं, यह तथ्य आज ही नहीं अनन्तकाल से सारे विश्व द्वारा स्वीकार किया जाता रहा है। केवल असुर ही इसे अस्वीकार करते रहे हैं। जो भी हो, चूँकि कृष्ण सर्वस्वीकृत परम प्रमाण हैं, अतः अर्जुन उन्हीं से प्रश्न करता है, जिससे कृष्ण स्वयं बताएँ और असुर तथा उनके अनुयायी जिस भाँति अपने लिए तोड़-मरोड़ करके उन्हें प्रस्तुत करते रहे हैं, उससे बचा जा सके। यह प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है कि अपने कल्याण के लिए वह कृष्णविद्या को जाने। अतः जब कृष्ण स्वयं अपने विषय में बोल रहे हों तो यह सारे विश्व के लिए शुभ है। कृष्ण द्वारा की गई ऐसी व्याख्याएँ असुरों को भले ही विचित्र लगें, क्योंकि वे अपने ही दृष्टिकोण से कृष्ण का अध्ययन करते हैं, किन्तु जो भक्त हैं वे साक्षात् कृष्ण द्वारा उच्चरित वचनों का हृदय से स्वागत करते हैं। भक्तगण कृष्ण के ऐसे प्रामाणिक वचनों की सदा पूजा करेंगे, क्योंकि वे लोग उनके विषय में अधिकाधिक जानने के लिए उत्सुक रहते हैं। इस तरह नास्तिकगण जो कृष्ण को सामान्य व्यक्ति मानते हैं वे भी कृष्ण को अतिमानव, सच्चिदानन्द विग्रह, दिव्य, त्रिगुणातीत तथा दिक्‌काल के प्रभाव से परे समझ सकेंगे। अर्जुन की कोटि के श्रीकृष्ण-भक्त को कभी भी श्रीकृष्ण के दिव्य स्वरूप के विषय में कोई भ्रम नहीं हो सकता। अर्जुन द्वारा भगवान् के समक्ष ऐसा प्रश्न उपस्थित करने का उद्देश्य उन व्यक्तियों की नास्तिकतावादी प्रवृत्ति को चुनौती देना था, जो कृष्ण को भौतिक प्रकृति के गुणों के अधीन एक सामान्य व्यक्ति मानते हैं।

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥ ५॥

श्री-भगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; **बहूनि**—अनेक; **मे**—मेरे; **व्यतीतानि**—बीत चुके; **जन्मानि**—जन्म; **तव**—तुम्हारे; **च**—भी; **अर्जुन**—हे अर्जुन; **तानि**—उन; **अहम्**—मैं; **वेद**—जानता हूँ; **सर्वाणि**—सबों को; **न**—नहीं; **त्वम्**—तुम; **वेत्थ**—जानते हो; **परन्तप**—हे शत्रुओं का दमन करने वाले।

श्रीभगवान् ने कहा—तुम्हारे तथा मेरे अनेकानेक जन्म हो चुके हैं। मुझे तो उन सबका स्मरण है, किन्तु हे परंतप! तुम्हें उनका स्मरण नहीं रह सकता है।

तात्पर्य : *ब्रह्मसंहिता* में (५.३३) हमें भगवान् के अनेकानेक अवतारों की सूचना प्राप्त होती है। उसमें कहा गया है—

अद्वैतमच्युतमनादिमनन्तरूपमाद्यं पुराणपुरुषं नवयौवनं च।
वेदेषु दुर्लभमदुर्लभमात्मभक्तौ गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं उन आदि पुरुष श्रीभगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो अद्वैत, अच्युत तथा अनादि हैं। यद्यपि अनन्त रूपों में उनका विस्तार है, किन्तु तो भी वे आद्य, पुरातन तथा नित्य नवयौवन युक्त रहते हैं। श्रीभगवान् के ऐसे सच्चिदानन्द रूप को प्राय: श्रेष्ठ वैदिक विद्वान जानते हैं, किन्तु विशुद्ध अनन्य भक्तों को तो उनके दर्शन नित्य ही होते रहते हैं।"

ब्रह्मसंहिता में (५.३९) यह भी कहा गया है—

रामादिमूर्तिषु कलानियमेन तिष्ठन् नानावतारमकरोद् भुवनेषु किन्तु।
कृष्णः स्वयं समभवत् परमः पुमान् यो गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं उन श्रीभगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो राम, नृसिंह आदि अवतारों तथा अंशावतारों में नित्य स्थित रहते हुए भी कृष्ण नाम से विख्यात आदि-पुरुष हैं और जो स्वयं भी अवतरित होते हैं।"

वेदों में भी कहा गया है कि अद्वैत होते हुए भी भगवान् असंख्य रूपों में प्रकट होते हैं। वे उस वैदूर्यमणि के समान हैं जो अपना रंग परिवर्तित करते हुए भी एक ही रहता है। इन सारे रूपों को विशुद्ध निष्काम भक्त ही समझ पाते हैं; केवल वेदों के अध्ययन से उनको नहीं समझा जा सकता (*वेदेषु दुर्लभमदुर्लभमात्मभक्तौ*)। अर्जुन जैसे भक्त कृष्ण के नित्य सखा हैं और जब भी भगवान् अवतरित होते हैं तो उनके पार्षद भक्त भी विभिन्न रूपों में उनकी सेवा करने के लिए उनके साथ-साथ अवतार लेते हैं। अर्जुन ऐसा ही भक्त है और इस श्लोक से पता चलता है कि लाखों वर्ष पूर्व जब भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* का प्रवचन सूर्यदेव विवस्वान् से किया था तो उस समय अर्जुन भी किसी भिन्न रूप में उपस्थित था। किन्तु भगवान् तथा अर्जुन में यह अन्तर है कि भगवान् ने यह घटना याद रखी, किन्तु अर्जुन इसे याद नहीं रख सका। अंशरूप जीवात्मा तथा परमेश्वर में यही अन्तर है। यद्यपि अर्जुन को यहाँ परम शक्तिशाली वीर के रूप में सम्बोधित किया गया है, जो शत्रुओं का दमन कर सकता है, किन्तु विगत जन्मों में जो घटनाएँ घटी हैं, उन्हें स्मरण रखने में वह अक्षम है। अतः भौतिक दृष्टि से जीव चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो, वह कभी परमेश्वर की समता नहीं कर सकता। भगवान् का नित्य संगी निश्चित रूप से मुक्त पुरुष होता है, किन्तु वह भगवान् के तुल्य नहीं होता। *ब्रह्मसंहिता* में भगवान् को *अच्युत* कहा गया जिसका अर्थ होता है कि वे भौतिक सम्पर्क में रहते हुए भी अपने को नहीं भूलते। अतः भगवान् तथा जीव कभी भी सभी तरह से एकसमान नहीं हो सकते, भले ही जीव अर्जुन के समान मुक्त पुरुष क्यों न हो। यद्यपि अर्जुन भगवान् का भक्त है, किन्तु कभी-कभी वह भी भगवान् की प्रकृति को भूल जाता है। किन्तु दैवी कृपा से भक्त तुरन्त भगवान् की अच्युत स्थिति को समझ जाता है जबकि अभक्त या असुर इस दिव्य प्रकृति को नहीं समझ पाता। फलस्वरूप *गीता* के विवरण आसुरी मस्तिष्कों में नहीं चढ़ पाते। कृष्ण को लाखों वर्ष पूर्व सम्पन्न कार्यों की स्मृति

बनी हुई है, किन्तु अर्जुन को स्मरण नहीं है यद्यपि अर्जुन तथा कृष्ण दोनों ही शाश्वत स्वभाव के हैं। यहाँ पर हमें यह भी देखने को मिलता है कि शरीर-परिवर्तन के साथ-साथ जीवात्मा सब कुछ भूल जाता है, किन्तु कृष्ण सब स्मरण रखते हैं, क्योंकि वे अपने सच्चिदानन्द शरीर को बदलते नहीं। वे अद्वैत हैं जिसका अर्थ है कि उनके शरीर तथा उनकी आत्मा में कोई अन्तर नहीं है। उनसे सम्बंधित हर वस्तु आत्मा है जबकि बद्धजीव अपने शरीर से भिन्न होता है। चूँकि भगवान् के शरीर तथा आत्मा अभिन्न हैं, अतः उनकी स्थिति तब भी सामान्य जीव से भिन्न बनी रहती है, जब वे भौतिक स्तर पर अवतार लेते हैं। असुरगण भगवान् की इस दिव्य प्रकृति से तालमेल नहीं बैठा पाते, जिसकी व्याख्या अगले श्लोक में भगवान् स्वयं करते हैं।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

अजः—अजन्मा; **अपि**—तथापि; **सन्**—होते हुए; **अव्यय**—अविनाशी; **आत्मा**—शरीर; **भूतानाम्**—जन्म लेने वालों के; **ईश्वरः**—परमेश्वर; **अपि**—यद्यपि; **सन्**—होने पर; **प्रकृतिम्**—दिव्य रूप में; **स्वाम्**—अपने; **अधिष्ठाय**—इस तरह स्थित; **सम्भवामि**—मैं अवतार लेता हूँ; **आत्म-मायया**—अपनी अन्तरंगा शक्ति से।

यद्यपि मैं अजन्मा तथा अविनाशी हूँ और यद्यपि मैं समस्त जीवों का स्वामी हूँ, तो भी प्रत्येक युग में मैं अपने आदि दिव्य रूप में प्रकट होता हूँ।

तात्पर्य : भगवान् ने अपने जन्म की विलक्षणता बतलाई है। यद्यपि वे सामान्य पुरुष की भाँति प्रकट हो सकते हैं, किन्तु उन्हें विगत अनेकानेक "जन्मों" की पूर्ण स्मृति बनी रहती है, जबकि सामान्य मनुष्य को कुछ ही घंटे पूर्व की घटना स्मरण नहीं रहती। यदि कोई पूछे कि एक दिन पूर्व इसी समय तुम क्या कर रहे थे, तो सामान्य व्यक्ति के लिए इसका तत्काल उत्तर दे पाना कठिन होगा। उसे इसको स्मरण करने के लिए अपनी बुद्धि को कुरेदना पड़ेगा कि वह कल इसी समय क्या कर रहा था। फिर भी लोग प्रायः अपने को ईश्वर या कृष्ण घोषित करते रहते हैं। मनुष्य को ऐसी निरर्थक घोषणाओं से भ्रमित नहीं होना चाहिए। अब भगवान् दुबारा अपनी प्रकृति या स्वरूप की व्याख्या करते हैं। प्रकृति का अर्थ स्वभाव तथा स्वरूप दोनों है। भगवान् कहते हैं कि वे अपने ही शरीर में प्रकट होते हैं। वे सामान्य जीव की भाँति शरीर-परिवर्तन नहीं करते। इस जन्म में बद्धजीव का एक प्रकार का शरीर हो सकता है, किन्तु अगले जन्म में दूसरा शरीर रहता है। भौतिक जगत् में जीव का कोई स्थायी शरीर नहीं है, अपितु वह एक शरीर से दूसरे में देहान्तरण करता रहता है। किन्तु भगवान् ऐसा नहीं करते। जब भी वे प्रकट होते हैं तो अपनी अन्तरंगा शक्ति से वे अपने उसी आद्य शरीर में प्रकट होते हैं। दूसरे शब्दों में, श्रीकृष्ण इस जगत् में अपने आदि शाश्वत स्वरूप में दो भुजाओं में बाँसुरी धारण किये अवतरित होते हैं। वे इस भौतिक जगत् से निष्कलुषित रह कर अपने शाश्वत शरीर सहित प्रकट होते हैं। यद्यपि वे अपने उसी दिव्य शरीर में प्रकट होते हैं और ब्रह्माण्ड के स्वामी होते हैं तो भी ऐसा लगता है कि वे सामान्य

जीव की भाँति प्रकट हो रहे हैं। यद्यपि उनका शरीर भौतिक शरीर की भाँति क्षीण नहीं होता फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् कृष्ण बालपन से कुमारावस्था तथा कुमारावस्था से तरुणावस्था प्राप्त करते हैं। किन्तु आश्चर्य तो यह है कि वे कभी युवावस्था से आगे नहीं बढ़ते। कुरुक्षेत्र युद्ध के समय उनके अनेक पौत्र थे या दूसरे शब्दों में, वे भौतिक गणना के अनुसार काफी वृद्ध थे। फिर भी वे बीस-पच्चीस वर्ष के युवक जैसे लगते थे। हमें कृष्ण की वृद्धावस्था का कोई चित्र नहीं दिखता, क्योंकि वे कभी भी हमारे समान वृद्ध नहीं होते यद्यपि वे तीनों काल में—भूत, वर्तमान तथा भविष्यकाल में—सबसे वयोवृद्ध पुरुष हैं। न तो उनका शरीर और न ही बुद्धि कभी क्षीण होती या बदलती है। अतः यह स्पष्ट है कि इस जगत् में रहते हुए भी वे उसी अजन्मा सच्चिदानन्द रूप वाले हैं, जिनके दिव्य शरीर तथा बुद्धि में कोई परिवर्तन नहीं होता। वस्तुतः उनका आविर्भाव और तिरोभाव सूर्य के उदय तथा अस्त के समान है जो हमारे सामने से घूमता हुआ हमारी दृष्टि से ओझल हो जाता है। जब सूर्य हमारी दृष्टि से ओझल रहता है तो हम सोचते हैं कि सूर्य अस्त हो गया है और जब वह हमारे समक्ष होता है तो हम सोचते हैं कि वह क्षितिज में है। वस्तुतः सूर्य स्थिर है, किन्तु अपनी अपूर्ण एवं त्रुटिपूर्ण इन्द्रियों के कारण हम सूर्य को उदय और अस्त होते परिकल्पित करते हैं। और चूँकि भगवान् का प्राकट्य तथा तिरोधान सामान्य जीव से भिन्न हैं अतः स्पष्ट है कि वे शाश्वत हैं, अपनी अन्तरंगा शक्ति के कारण आनन्दस्वरूप हैं और इस भौतिक प्रकृति द्वारा कभी कलुषित नहीं होते। वेदों द्वारा भी पुष्टि की जाती है कि भगवान् अजन्मा होकर भी अनेक रूपों में अवतरित होते रहते हैं। वैदिक साहित्यों से भी पुष्टि होती है कि यद्यपि भगवान् जन्म लेते प्रतीत होते हैं, किन्तु तो भी वे शरीर-परिवर्तन नहीं करते। *श्रीमद्भागवत* में वे अपनी माता के समक्ष नारायण रूप में चार भुजाओं तथा षड्ऐश्वर्यो से युक्त होकर प्रकट होते हैं। उनका आद्य शाश्वत रूप में प्राकट्य उनकी अहैतुकी कृपा है जो जीवों को प्रदान की जाती है जिससे वे भगवान् के यथारूप में अपना ध्यान केन्द्रित कर सकें न कि निर्विशेषवादियों द्वारा मनोधर्म या कल्पनाओं पर आधारित रूप में। विश्वकोश के अनुसार माया या आत्म-माया शब्द भगवान् की अहैतुकी कृपा का सूचक है। भगवान् अपने समस्त पूर्व आविर्भाव-तिरोभावों से अवगत रहते हैं, किन्तु सामान्य जीव को जैसे ही नवीन शरीर प्राप्त होता है वह अपने पूर्व शरीर के विषय में सब कुछ भूल जाता है। वे समस्त जीवों के स्वामी हैं, क्योंकि इस धरा पर रहते हुए वे आश्चर्यजनक तथा अतिमानवीय लीलाएँ करते रहते हैं। अतः भगवान् निरन्तर वही परम सत्य रूप हैं और उनके स्वरूप तथा आत्मा में या उनके गुण तथा शरीर में कोई अन्तर नहीं होता। अब यह प्रश्न किया जा सकता है कि इस संसार में भगवान् क्यों आविर्भूत और तिरोभूत होते रहते हैं? अगले श्लोक में इसकी व्याख्या की गई है।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥ ७॥

यदा यदा—जब भी और जहाँ भी; **हि**—निश्चय ही; **धर्मस्य**—धर्म की; **ग्लानिः**—हानि, पतन;

भवति—होती है; **भारत**—हे भरतवंशी; **अभ्युत्थानम्**—प्रधानता; **अधर्मस्य**—अधर्म की; **तदा**—उस समय; **आत्मानम्**—अपने को; **सृजामि**—प्रकट करता हूँ; **अहम्**—मैं।

हे भरतवंशी! जब भी और जहाँ भी धर्म का पतन होता है और अधर्म की प्रधानता होने लगती है, तब तब मैं अवतार लेता हूँ।

तात्पर्य : यहाँ पर *सृजामि* शब्द महत्त्वपूर्ण है। सृजामि सृष्टि के अर्थ में नहीं प्रयुक्त हो सकता, क्योंकि पिछले श्लोक के अनुसार भगवान् के स्वरूप या शरीर की सृष्टि नहीं होती, क्योंकि उनके सारे स्वरूप शाश्वत रूप से विद्यमान रहने वाले हैं। अतः *सृजामि* का अर्थ है कि भगवान् स्वयं यथारूप में प्रकट होते हैं। यद्यपि भगवान् कार्यक्रमानुसार अर्थात् ब्रह्मा के एक दिन में सातवें मनु के २८वें युग में द्वापर के अन्त में प्रकट होते हैं, किन्तु वे इस नियम का पालन करने के लिए बाध्य नहीं हैं, क्योंकि वे स्वेच्छा से कर्म करने के लिए स्वतन्त्र हैं। अतः जब भी अधर्म की प्रधानता तथा धर्म का लोप होने लगता है, तो वे स्वेच्छा से प्रकट होते हैं। धर्म के नियम वेदों में दिये हुए हैं और यदि इन नियमों के पालन में कोई त्रुटि आती है तो मनुष्य अधार्मिक हो जाता है। *श्रीमद्भागवत* में बताया गया है कि ऐसे नियम भगवान् के नियम हैं। केवल भगवान् ही किसी धर्म की व्यवस्था कर सकते हैं। वेद भी मूलतः ब्रह्मा के हृदय में से भगवान् द्वारा उच्चरित माने जाते हैं। अतः धर्म के नियम भगवान् के प्रत्यक्ष आदेश हैं (*धर्मं तु साक्षाद्भगवत्प्रणीतम्*)। *भगवद्गीता* में आद्योपान्त इन्हीं नियमों का संकेत है। वेदों का उद्देश्य परमेश्वर के आदेशानुसार ऐसे नियमों की स्थापना करना है और *गीता* के अन्त में भगवान् स्वयं आदेश देते हैं कि सर्वोच्च धर्म उनकी ही शरण ग्रहण करना है। वैदिक नियम जीव को पूर्ण शरणागति की ओर अग्रसर कराने वाले हैं और जब भी असुरों द्वारा इन नियमों में व्यवधान आता है तभी भगवान् प्रकट होते हैं। *श्रीमद्भागवत* पुराण से हम जानते हैं कि बुद्ध कृष्ण के अवतार हैं, जिनका प्रादुर्भाव उस समय हुआ जब भौतिकतावाद का बोलबाला था और भौतिकतावादी लोग वेदों को प्रमाण बनाकर उसकी आड़ ले रहे थे। यद्यपि वेदों में विशिष्ट कार्यों के लिए पशु बलि के विषय में कुछ सीमित विधान थे, किन्तु आसुरी वृत्तिवाले लोग वैदिक नियमों का सन्दर्भ दिये बिना पशु-बलि को अपनाये हुए थे। भगवान् बुद्ध इस अनाचार को रोकने तथा अहिंसा के वैदिक नियमों की स्थापना करने के लिए अवतरित हुए। अतः भगवान् के प्रत्येक अवतार का विशेष उद्देश्य होता है और इन सबका वर्णन शास्त्रों में हुआ है। यह तथ्य नहीं है कि केवल भारत की धरती में भगवान् अवतरित होते हैं। वे कहीं भी और किसी भी काल में इच्छा होने पर प्रकट हो सकते हैं। वे प्रत्येक अवतार लेने पर धर्म के विषय में उतना ही कहते हैं, जितना कि उस परिस्थिति में जन-समुदाय विशेष समझ सकता है। लेकिन उद्देश्य एक ही रहता है—लोगों को ईशभावनाभावित करना तथा धार्मिक नियमों के प्रति आज्ञाकारी बनाना। कभी वे स्वयं प्रकट होते हैं तो कभी अपने प्रामाणिक प्रतिनिधि को अपने पुत्र या दास के रूप में भेजते हैं, या वेश बदल कर स्वयं ही प्रकट होते हैं।

भगवद्गीता के सिद्धान्त अर्जुन से कहे गये थे, अतः वे किसी भी महापुरुष के प्रति हो सकते थे, क्योंकि अर्जुन संसार के अन्य भागों के सामान्य पुरुषों की अपेक्षा अधिक

जागरुक था। दो और दो मिलकर चार होते हैं, यह गणितीय नियम प्राथमिक कक्षा के विद्यार्थी के लिए उतना ही सत्य है, जितना कि उच्च कक्षा के विद्यार्थी के लिए। तो भी गणित उच्चस्तर तथा निम्नस्तर का होता है। अतः भगवान् प्रत्येक अवतार में एक-जैसे सिद्धान्तों की शिक्षा देते हैं, जो परिस्थितियों के अनुसार उच्च या निम्न प्रतीत होते हैं। जैसा कि आगे बताया जाएगा धर्म के उच्चतर सिद्धान्त चारों वर्णाश्रमों को स्वीकार करने से प्रारम्भ होते हैं। अवतारों का एकमात्र उद्देश्य सर्वत्र कृष्णभावनामृत को उद्बोधित करना है। परिस्थिति के अनुसार यह भावनामृत प्रकट तथा अप्रकट होता है।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥ ८॥

परित्राणाय—उद्धार के लिए; **साधूनाम्**—भक्तों के; **विनाशाय**—संहार के लिए; **च**—तथा; **दुष्कृताम्**—दुष्टों के; **धर्म**—धर्म के; **संस्थापन-अर्थाय**—पुनः स्थापित करने के लिए; **सम्भवामि**—प्रकट होता हूँ; **युगे**—युग; **युगे**—युग में।

भक्तों का उद्धार करने, दुष्टों का विनाश करने तथा धर्म की फिर से स्थापना करने के लिए मैं हर युग में प्रकट होता हूँ।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* के अनुसार साधु (पवित्र पुरुष) कृष्णभावनाभावित व्यक्ति है। अधार्मिक लगने वाले व्यक्ति में भी यदि पूर्ण कृष्णचेतना हो, तो उसे साधु समझना चाहिए। दुष्*कृताम्* उन व्यक्तियों के लिए आया है जो कृष्णभावनामृत की परवाह नहीं करते। ऐसे दुष्कृताम् या उपद्रवी, मूर्ख तथा अधम व्यक्ति कहलाते हैं, भले ही वे सांसारिक शिक्षा से विभूषित क्यों न हों। इसके विपरीत यदि कोई शत-प्रतिशत कृष्णभावनामृत में लगा रहता है तो वह विद्वान् या सुसंस्कृत न भी हो फिर भी वह साधु माना जाता है। जहाँ तक अनीश्वरवादियों का प्रश्न है, भगवान् के लिए आवश्यक नहीं कि वे इनके विनाश के लिए उस रूप में अवतरित हों जिस रूप में वे रावण तथा कंस का वध करने के लिए हुए थे। भगवान् के ऐसे अनेक अनुचर हैं जो असुरों का संहार करने में सक्षम हैं। किन्तु भगवान् तो अपने उन निष्काम भक्तों को तुष्ट करने के लिए विशेष रूप से अवतार लेते हैं जो असुरों द्वारा निरन्तर तंग किये जाते हैं। असुर भक्त को तंग करता है, भले ही वह उसका सगा-सम्बन्धी क्यों न हो। यद्यपि प्रह्लाद महाराज हिरण्यकशिपु के पुत्र थे, किन्तु तो भी वे अपने पिता द्वारा उत्पीड़ित थे। इसी प्रकार कृष्ण की माता देवकी यद्यपि कंस की बहन थीं, किन्तु उन्हें तथा उनके पति वसुदेव को इसलिए दण्डित किया गया था क्योंकि उनसे कृष्ण को जन्म लेना था। अतः भगवान् कृष्ण मुख्यतः देवकी के उद्धार करने के लिए प्रकट हुए थे, कंस को मारने के लिए नहीं। किन्तु ये दोनों कार्य एकसाथ सम्पन्न हो गये। अतः यह कहा जाता है कि भगवान् भक्त का उद्धार करने तथा दुष्ट असुरों का संहार करने के लिए विभिन्न अवतार लेते हैं।

कृष्णदास कविराज कृत *चैतन्य चरितामृत* के निम्नलिखित श्लोकों (मध्य २०.२६३-२६४) से अवतार के सिद्धान्तों का सारांश प्रकट होता है—

सृष्टिहेतु एइ मूर्ति प्रपञ्चे अवतरे।
सेइ ईश्वरमूर्ति 'अवतार' नाम धरे॥
मायातीत परव्योमे सबार अवस्थान।
विश्वे अवतरि' धरे 'अवतार' नाम॥

"अवतार अथवा ईश्वर का अवतार भगवद्धाम से भौतिक प्राकट्य हेतु होता है। ईश्वर का वह विशिष्ट रूप जो इस प्रकार अवतरित होता है अवतार कहलाता है। ऐसे अवतार भगवद्धाम में स्थित रहते हैं। जब वे भौतिक सृष्टि में उतरते हैं, तो उन्हें अवतार कहा जाता है।"

अवतार कई तरह के होते हैं यथा पुरुषावतार, गुणावतार, लीलावतार, शक्त्यावेश अवतार, मन्वन्तर अवतार तथा युगावतार—इन सबका इस ब्रह्माण्ड में क्रमानुसार अवतरण होता है। किन्तु भगवान् कृष्ण आदि भगवान् हैं और समस्त अवतारों के उद्‌गम हैं। भगवान् श्रीकृष्ण शुद्ध भक्तों की चिन्ताओं को दूर करने के विशिष्ट प्रयोजन से अवतार लेते हैं, जो उन्हें उनकी मूल वृन्दावन लीलाओं के रूप में देखने के उत्सुक रहते हैं। अतः कृष्ण अवतार का मूल उद्देश्य अपने निष्काम भक्तों को प्रसन्न करना है।

भगवान् का वचन है कि वे प्रत्येक युग में अवतरित होते रहते हैं। इससे सूचित होता है कि वे कलियुग में भी अवतार लेते हैं। जैसा कि *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है कि कलियुग के अवतार भगवान् चैतन्य महाप्रभु हैं जिन्होंने संकीर्तन आन्दोलन के द्वारा कृष्णपूजा का प्रसार किया और पूरे भारत में कृष्णभावनामृत का विस्तार किया। उन्होंने यह भविष्यवाणी की कि संकीर्तन की यह संस्कृति सारे विश्व के नगर-नगर तथा ग्राम-ग्राम में फैलेगी। भगवान् चैतन्य को गुप्त रूप में, किन्तु प्रकट रूप में नहीं, उपनिषदों, महाभारत तथा भागवत जैसे शास्त्रों के गुह्य अंशों में वर्णित किया गया है। भगवान् कृष्ण के भक्तगण भगवान् चैतन्य के संकीर्तन आन्दोलन द्वारा अत्यधिक आकर्षित रहते हैं। भगवान् का यह अवतार दुष्टों का विनाश नहीं करता, अपितु अपनी अहैतुकी कृपा से उनका उद्धार करता है।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥९॥

जन्म—जन्म; **कर्म**—कर्म; **च**—भी; **मे**—मेरे; **दिव्यम्**—दिव्य; **एवम्**—इस प्रकार; **यः**—जो कोई; **वेत्ति**—जानता है; **तत्त्वतः**—वास्तविकता में; **त्यक्त्वा**—छोड़कर; **देहम्**—इस शरीर को; **पुनः**—फिर; **जन्म**—जन्म; **न**—कभी नहीं; **एति**—प्राप्त करता है; **माम्**—मुझको; **एति**—प्राप्त करता है; **सः**—वह; **अर्जुन**—हे अर्जुन।

हे अर्जुन! जो मेरे आविर्भाव तथा कर्मों की दिव्य प्रकृति को जानता है, वह इस शरीर को छोड़ने पर इस भौतिक संसार में पुनः जन्म नहीं लेता, अपितु मेरे सनातन धाम को प्राप्त होता है।

तात्पर्य : छठे श्लोक में भगवान् के दिव्यधाम से उनके अवतरण की व्याख्या हो चुकी है। जो मनुष्य भगवान् के आविर्भाव के सत्य को समझ लेता है वह इस भवबन्धन से

मुक्त हो जाता है और इस शरीर को छोड़ते ही वह तुरन्त भगवान् के धाम को लौट जाता है। भवबन्धन से जीव की ऐसी मुक्ति सरल नहीं है। निर्विशेषवादी तथा योगीजन पर्याप्त कष्ट तथा अनेकानेक जन्मों के बाद ही मुक्ति प्राप्त कर पाते हैं। इतने पर भी उन्हें जो मुक्ति भगवान् की निराकार ब्रह्मज्योति में तादात्म्य प्राप्त करने के रूप में मिलती है, वह आंशिक होती है और इस भौतिक संसार में लौट आने का भय बना रहता है। किन्तु भगवान् के शरीर की दिव्य प्रकृति तथा उनके कार्यकलापों को समझने मात्र से भक्त इस शरीर का अन्त होने पर भगवद्धाम को प्राप्त करता है और उसे इस संसार में लौट आने का भय नहीं रह जाता। *ब्रह्मसंहिता* में (५.३३) यह बताया गया है कि भगवान् के अनेक रूप तथा अवतार हैं—*अद्वैतमच्युतमनादिमनन्तरूपम्।* यद्यपि भगवान् के अनेक दिव्य रूप हैं, किन्तु फिर भी वे अद्वय भगवान् हैं। इस तथ्य को विश्वासपूर्वक समझना चाहिए, यद्यपि यह संसारी विद्वानों तथा ज्ञानयोगियों के लिए अगम्य है। जैसा कि वेदों (*पुरुष बोधिनी उपनिषद्*) में कहा गया है—

एको देवो नित्यलीलानुरक्तो भक्तव्यापी हृद्यन्तरात्मा॥

"एक भगवान् अपने निष्काम भक्तों के साथ अनेकानेक दिव्य रूपों में सदैव सम्बन्धित हैं।" इस वेदवचन की स्वयं भगवान् ने *गीता* के इस श्लोक में पुष्टि की है। जो इस सत्य को वेद तथा भगवान् के प्रमाण के आधार पर स्वीकार करता है और शुष्क चिन्तन में समय नहीं गँवाता वह मुक्ति की चरम सिद्धि प्राप्त करता है। इस सत्य को श्रद्धापूर्वक स्वीकार करने से मनुष्य निश्चित रूप से मुक्ति-लाभ कर सकता है। इस प्रसंग में वैदिकवाक्य *तत्त्वमसि* लागू होता है। जो कोई भगवान् कृष्ण को परब्रह्म करके जानता है या उनसे यह कहता है कि "आप वही परब्रह्म श्रीभगवान् हैं" वह निश्चित रूप से अविलम्ब मुक्त हो जाता है, फलस्वरूप उसे भगवान् की दिव्यसंगति की प्राप्ति निश्चित हो जाती है। दूसरे शब्दों में, ऐसा श्रद्धालु भगवद्भक्त सिद्धि प्राप्त करता है। इसकी पुष्टि निम्नलिखित वेदवचन से होती है—

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

"श्रीभगवान् को जान लेने से ही मनुष्य जन्म तथा मृत्यु से मुक्ति की पूर्ण अवस्था प्राप्त कर सकता है। इस सिद्धि को प्राप्त करने का कोई अन्य विकल्प नहीं है।" (*श्वेताश्वतर उपनिषद्* ३.८) इसका कोई विकल्प नहीं है का अर्थ यही है कि जो श्रीकृष्ण को श्रीभगवान् के रूप में नहीं मानता वह अवश्य ही तमोगुणी है और मधुपात्र को केवल बाहर से चाटकर या *भगवद्गीता* की विद्वत्तापूर्ण संसारी विवेचना करके मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। ऐसे शुष्क दार्शनिक भौतिक जगत् में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले हो सकते हैं, किन्तु वे मुक्ति के अधिकारी नहीं होते। ऐसे अभिमानी संसारी विद्वानों को भगवद्भक्त की अहैतुकी कृपा की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। अतः मनुष्य को चाहिए कि श्रद्धा तथा ज्ञान के साथ कृष्णभावनामृत का अनुशीलन करे और सिद्धि प्राप्त करने का यही उपाय है।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

वीत–मुक्त; **राग**–आसक्ति; **भय**–भय; **क्रोधाः**–तथा क्रोध से; **मत्-मया**–पूर्णतया मुझमें; **माम्**–मुझमें; **उपाश्रिताः**–पूर्णतया स्थित; **बहवः**–अनेक; **ज्ञान**–ज्ञान की; **तपसा**–तपस्या से; **पूताः**–पवित्र हुआ; **मत्-भावम्**–मेरे प्रति दिव्य प्रेम को; **आगताः**–प्राप्त।

आसक्ति, भय तथा क्रोध से मुक्त होकर, मुझमें पूर्णतया तन्मय होकर और मेरी शरण में आकर बहुत से व्यक्ति भूत काल में मेरे ज्ञान से पवित्र हो चुके हैं। इस प्रकार से उन सबों ने मेरे प्रति दिव्यप्रेम को प्राप्त किया है।

तात्पर्य : जैसा कि पहले कहा जा चुका है विषयों में आसक्त व्यक्ति के लिए परम सत्य के स्वरूप को समझ पाना अत्यन्त कठिन है। सामान्यतया जो लोग देहात्मबुद्धि में आसक्त होते हैं, वे भौतिकतावाद में इतने लीन रहते हैं कि उनके लिए यह समझ पाना असम्भव सा है कि परमात्मा व्यक्ति भी हो सकता है। ऐसे भौतिकतावादी व्यक्ति इसकी कल्पना तक नहीं कर पाते कि ऐसा भी दिव्य शरीर है जो नित्य तथा सच्चिदानन्दमय है। भौतिकतावादी धारणा के अनुसार शरीर नाशवान्, अज्ञानमय तथा अत्यन्त दुखमय होता है। अतः जब लोगों को भगवान् के साकार रूप के विषय में बताया जाता है तो उनके मन में शरीर की यही धारणा बनी रहती है। ऐसे भौतिकतावादी पुरुषों के लिए विराट भौतिक जगत् का स्वरूप ही परमतत्त्व है। फलस्वरूप वे परमेश्वर को निराकार मानते हैं और भौतिकता में इतने तल्लीन रहते हैं कि भौतिक पदार्थ से मुक्ति के बाद भी अपना स्वरूप बनाये रखने के विचार से डरते हैं। जब उन्हें यह बताया जाता है कि आध्यात्मिक जीवन भी व्यक्तिगत तथा साकार होता है तो वे पुनः व्यक्ति बनने से भयभीत हो उठते हैं, फलतः वे निराकार शून्य में तदाकार होना पसन्द करते हैं। सामान्यतया वे जीवों की तुलना समुद्र के बुलबुलों से करते हैं, जो टूटने पर समुद्र में ही लीन हो जाते हैं। पृथक् व्यक्तित्व से रहित आध्यात्मिक जीवन की यह चरम सिद्धि है। यह जीवन की भयावह अवस्था है, जो आध्यात्मिक जीवन के पूर्णज्ञान से रहित है। इसके अतिरिक्त ऐसे बहुत से मनुष्य हैं जो आध्यात्मिक जीवन को तनिक भी नहीं समझ पाते। अनेक वादों तथा दार्शनिक चिन्तन की विविध विसंगतियों से परेशान होकर वे ऊब उठते हैं या क्रुद्ध हो जाते हैं और मूर्खतावश यह निष्कर्ष निकालते हैं कि परम कारण जैसा कुछ नहीं है, अतः प्रत्येक वस्तु अन्ततोगत्वा शून्य है। ऐसे लोग जीवन की रुग्णावस्था में होते हैं। कुछ लोग भौतिकता में इतने आसक्त रहते हैं कि वे आध्यात्मिक जीवन की ओर कोई ध्यान नहीं देते और कुछ लोग तो निराशावश सभी प्रकार के आध्यात्मिक चिन्तनों से क्रुद्ध होकर प्रत्येक वस्तु पर अविश्वास करने लगते हैं। इस अन्तिम कोटि के लोग किसी न किसी मादक वस्तु का सहारा लेते हैं और उनके मति-विभ्रम को कभी-कभी आध्यात्मिक दृष्टि मान लिया जाता है। मनुष्य को भौतिक जगत् के प्रति आसक्ति की तीनों अवस्थाओं से छुटकारा पाना होता है—ये हैं आध्यात्मिक जीवन की उपेक्षा, आध्यात्मिक साकार रूप का भय तथा जीवन की हताशा से उत्पन्न शून्यवाद की कल्पना।

जीवन की इन तीनों अवस्थाओं से छुटकारा पाने के लिए प्रामाणिक गुरु के निर्देशन में भगवान् की शरण ग्रहण करना और भक्तिमय जीवन के नियम तथा विधि-विधानों का पालन करना आवश्यक है। भक्तिमय जीवन की अन्तिम अवस्था *भाव* या दिव्य ईश्वरीय प्रेम कहलाती है।

भक्तिरसामृतसिन्धु (१.४.१५-१६)के अनुसार भक्ति का विज्ञान इस प्रकार है—

आदौ श्रद्धा ततः साधुसंगोऽथ भजनक्रिया
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः।
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति
साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत्क्रमः॥

"प्रारम्भ में आत्म-साक्षात्कार की सामान्य इच्छा होनी चाहिए। इससे मनुष्य ऐसे व्यक्तियों की संगति करने का प्रयास करता है जो आध्यात्मिक दृष्टि से उठे हुए हैं। अगली अवस्था में गुरु से दीक्षित होकर नवदीक्षित भक्त उसके आदेशानुसार भक्तियोग प्रारम्भ करता है। इस प्रकार सद्गुरु के निर्देश में भक्ति करते हुए वह समस्त भौतिक आसक्ति से मुक्त हो जाता है, उसके आत्म-साक्षात्कार में स्थिरता आती है और वह श्रीभगवान् कृष्ण के विषय में श्रवण करने के लिए रुचि विकसित करता है। इस रुचि से आगे चलकर कृष्णभावनामृत में आसक्ति उत्पन्न होती है जो भाव में अथवा भगवत्प्रेम के प्रथम सोपान में परिपक्व होती है। ईश्वर के प्रति प्रेम ही जीवन की सार्थकता है।" प्रेम-अवस्था में भक्त भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में निरन्तर लीन रहता है। अतः भक्ति की मन्द विधि से प्रामाणिक गुरु के निर्देश में सर्वोच्च अवस्था प्राप्त की जा सकती है और समस्त भौतिक आसक्ति, व्यक्तिगत आध्यात्मिक स्वरूप के भय तथा शून्यवाद से उत्पन्न हताशा से मुक्त हुआ जा सकता है। तभी मनुष्य को अन्त में भगवान् के धाम की प्राप्ति हो सकती है।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ ११॥

ये—जो; **यथा**—जिस तरह; **माम्**—मेरी; **प्रपद्यन्ते**—शरण में जाते हैं; **तान्**—उनको; **तथा**—उसी तरह; **एव**—निश्चय ही; **भजामि**—फल देता हूँ; **अहम्**—मैं; **मम**—मेरे; **वर्त्म**—पथ का; **अनुवर्तन्ते**—अनुगमन करते हैं; **मनुष्याः**—सारे मनुष्य; **पार्थ**—हे पृथापुत्र; **सर्वशः**—सभी प्रकार से।

जिस भाव से सारे लोग मेरी शरण ग्रहण करते हैं, उसी के अनुरूप मैं उन्हें फल देता हूँ। हे पार्थ! प्रत्येक व्यक्ति सभी प्रकार से मेरे पथ का अनुगमन करता है।

तात्पर्य : प्रत्येक व्यक्ति कृष्ण को उनके विभिन्न स्वरूपों में खोज रहा है। भगवान् श्रीकृष्ण को अंशतः उनके निर्विशेष ब्रह्मज्योति तेज में तथा प्रत्येक वस्तु के कण-कण में रहने वाले सर्वव्यापी परमात्मा के रूप में अनुभव किया जाता है, लेकिन कृष्ण का पूर्ण साक्षात्कार तो उनके शुद्ध भक्त ही कर पाते हैं। फलतः कृष्ण प्रत्येक व्यक्ति की अनुभूति के विषय हैं और इस तरह कोई भी और सभी अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार तुष्ट होते हैं। दिव्य जगत् में भी कृष्ण अपने शुद्ध भक्तों के साथ दिव्य भाव से विनिमय करते

हैं जिस तरह कि भक्त उन्हें चाहता है। कोई एक भक्त कृष्ण को परम स्वामी के रूप में चाह सकता है, दूसरा अपने सखा के रूप में, तीसरा अपने पुत्र के रूप में और चौथा अपने प्रेमी के रूप में। कृष्ण सभी भक्तों को समान रूप से उनके प्रेम की प्रगाढ़ता के अनुसार फल देते हैं। भौतिक जगत् में भी ऐसी ही विनिमय की अनुभूतियाँ होती हैं और वे विभिन्न प्रकार के भक्तों के अनुसार भगवान् द्वारा समभाव से विनिमय की जाती हैं। शुद्ध भक्त यहाँ पर और दिव्यधाम में भी कृष्ण का सान्निध्य प्राप्त करते हैं और भगवान् की साकार सेवा कर सकते हैं। इस तरह वे उनकी प्रेमाभक्ति का दिव्य आनन्द प्राप्त करते हैं। किन्तु जो निर्विशेषवादी हैं और जो जीवात्मा के अस्तित्व को मिटाकर आध्यात्मिक आत्मघात करना चाहते हैं, कृष्ण उनको भी अपने तेज में लीन करके उनकी सहायता करते हैं। ऐसे निर्विशेषवादी सच्चिदानन्द भगवान् को स्वीकार नहीं करते, फलतः वे अपने व्यक्तित्व को मिटाकर भगवान् की दिव्य सगुण भक्ति के आनन्द को प्राप्त नहीं करते। उनमें से कुछ जो निर्विशेष सत्ता में दृढ़तापूर्वक स्थित नहीं हो पाते, वे अपनी कार्य करने की सुप्त इच्छाओं को प्रदर्शित करने के लिए इस भौतिक क्षेत्र में वापस आते हैं। उन्हें वैकुण्ठलोक में प्रवेश करने नहीं दिया जाता, किन्तु उन्हें भौतिक लोक में कार्य करने का अवसर प्रदान किया जाता है। जो सकामकर्मी हैं, भगवान् उन्हें यज्ञेश्वर के रूप में उनके कर्मों का वांछित फल देते हैं। जो योगी हैं और योगशक्ति की खोज में रहते हैं, उन्हें योगशक्ति प्रदान करते हैं। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक व्यक्ति की सफलता भगवान् की कृपा पर आश्रित रहती है और समस्त प्रकार की आध्यात्मिक विधियाँ एक ही पथ में सफलता की विभिन्न कोटियाँ हैं। अतः जब तक कोई कृष्णभावनामृत की सर्वोच्च सिद्धि तक नहीं पहुँच जाता तब तक सारे प्रयास अपूर्ण रहते हैं, जैसा कि *श्रीमद्भागवत* में (२.३.१०) कहा गया है—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥

"मनुष्य चाहे निष्काम हो या फल का इच्छुक हो या मुक्ति का इच्छुक ही क्यों न हो, उसे पूरे सामर्थ्य से भगवान् की सेवा करनी चाहिए जिससे उसे पूर्ण सिद्धि प्राप्त हो सके, जिसका पर्यवसान कृष्णभावनामृत में होता है।"

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥१२॥

काङ्क्षन्तः—चाहते हुए; **कर्मणाम्**—सकाम कर्मों की; **सिद्धिम्**—सिद्धि; **यजन्ते**—यज्ञों द्वारा पूजा करते हैं; **इह**—इस भौतिक जगत् में; **देवताः**—देवतागण; **क्षिप्रम्**—तुरन्त ही; **हि**—निश्चय ही; **मानुषे**—मानव समाज में; **लोके**—इस संसार में; **सिद्धिः**—सिद्धि, सफलता; **भवति**—होती है; **कर्म-जा**—सकाम कर्म से।

इस संसार में मनुष्य सकाम कर्मों में सिद्धि चाहते हैं, फलस्वरूप वे देवताओं की पूजा करते हैं। निस्सन्देह इस संसार में मनुष्यों को सकाम कर्म का फल शीघ्र प्राप्त होता है।

तात्पर्य : इस जगत् के देवताओं के विषय में भ्रान्त धारणा है और विद्वत्ता का दम्भ करने वाले अल्पज्ञ मनुष्य इन देवताओं को परमेश्वर के विभिन्न रूप मान बैठते हैं। वस्तुतः ये देवता ईश्वर के विभिन्न रूप नहीं होते, किन्तु वे ईश्वर के विभिन्न अंश होते हैं। ईश्वर तो एक है, किन्तु अंश अनेक हैं। वेदों का कथन है—*नित्यो नित्यानाम्*। ईश्वर एक है। *ईश्वरः परमः कृष्णः*। कृष्ण ही एकमात्र परमेश्वर हैं और सभी देवताओं को इस भौतिक जगत् का प्रबन्ध करने के लिए शक्तियाँ प्राप्त हैं। ये देवता जीवात्माएँ हैं (*नित्यानाम्*) जिन्हें विभिन्न मात्रा में भौतिक शक्ति प्राप्त है। वे कभी परमेश्वर—नारायण, विष्णु या कृष्ण के तुल्य नहीं हो सकते। जो व्यक्ति ईश्वर तथा देवताओं को एक स्तर पर सोचता है, वह नास्तिक या पाषंडी कहलाता है। यहाँ तक कि ब्रह्मा तथा शिवजी जैसे बड़े-बड़े देवता भी परमेश्वर की समता नहीं कर सकते। वास्तव में ब्रह्मा तथा शिव जैसे देवताओं द्वारा भगवान् की पूजा की जाती है (*शिवविरिञ्चिनुतम्*)। तो भी आश्चर्य की बात यह है कि अनेक मूर्ख लोग मनुष्यों के नेताओं की पूजा उन्हें अवतार मान कर करते हैं। *इह देवताः* पद इस संसार के शक्तिशाली मनुष्य या देवता के लिए आया है, लेकिन नारायण, विष्णु या कृष्ण जैसे भगवान् इस संसार के नहीं हैं। वे भौतिक सृष्टि से परे रहने वाले हैं। निर्विशेषवादियों के अग्रणी श्रीपाद शंकराचार्य तक मानते हैं कि नारायण या कृष्ण इस भौतिक सृष्टि से परे हैं फिर भी मूर्ख लोग (*हतज्ञान*) देवताओं की पूजा करते हैं, क्योंकि वे तत्काल फल चाहते हैं। उन्हें फल मिलता भी है, किन्तु वे यह नहीं जानते कि ऐसे फल क्षणिक होते हैं और अल्पज्ञ मनुष्यों के लिए हैं। बुद्धिमान् व्यक्ति कृष्णभावनामृत में स्थित रहता है। उसे किसी तत्काल क्षणिक लाभ के लिए किसी तुच्छ देवता की पूजा करने की आवश्यकता नहीं रहती। इस संसार के देवता तथा उनके पूजक, इस संसार के संहार के साथ ही विनष्ट हो जाएँगे। देवताओं के वरदान भी भौतिक तथा क्षणिक होते हैं। यह भौतिक संसार तथा इसके निवासी, जिनमें देवता तथा उनके पूजक भी सम्मिलित हैं, विराट सागर में बुलबुलों के समान हैं। किन्तु इस संसार में मानव समाज क्षणिक वस्तुओं—यथा सम्पत्ति, परिवार तथा भोग की सामग्री के पीछे पागल रहता है। ऐसी क्षणिक वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए लोग देवताओं की या मानव समाज के शक्तिशाली व्यक्तियों की पूजा करते हैं। यदि कोई व्यक्ति किसी राजनीतिक नेता की पूजा करके सरकार में मन्त्रिपद प्राप्त कर लेता है, तो वह सोचता है कि उसने महान वरदान प्राप्त कर लिया है। इसलिए सभी व्यक्ति तथाकथित नेताओं को साष्टांग प्रणाम करते हैं, जिससे वे क्षणिक वरदान प्राप्त कर सकें और सचमुच उन्हें ऐसी वस्तुएँ मिल भी जाती हैं। ऐसे मूर्ख व्यक्ति इस संसार के कष्टों के स्थायी निवारण के लिए कृष्णभावनामृत में अभिरुचि नहीं दिखाते। वे सभी इन्द्रियभोग के पीछे दीवाने रहते हैं और थोड़े से इन्द्रियसुख के लिए वे शक्तिप्रदत्त-जीवों की पूजा करते हैं, जिन्हें देवता कहते हैं। यह श्लोक इंगित करता है कि विरले लोग ही कृष्णभावनामृत में रुचि लेते हैं। अधिकांश लोग भौतिक भोग में रुचि लेते हैं, फलस्वरूप वे किसी न किसी शक्तिशाली व्यक्ति की पूजा करते हैं।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥१३॥

चातुः-वर्ण्यम्—मानव समाज के चार विभाग; **मया**—मेरे द्वारा; **सृष्टम्**—उत्पन्न किये हुए; **गुण**—गुण; **कर्म**—तथा कर्म का; **विभागशः**—विभाजन के अनुसार; **तस्य**—उसका; **कर्तारम्**—जनक; **अपि**—यद्यपि; **माम्**—मुझको; **विद्धि**—जानो; **अकर्तारम्**—न करने वाले के रूप में; **अव्ययम्**—अपरिवर्तनीय को।

प्रकृति के तीनों गुणों और उनसे सम्बद्ध कर्म के अनुसार मेरे द्वारा मानव समाज के चार विभाग रचे गये। यद्यपि मैं इस व्यवस्था का स्रष्टा हूँ, किन्तु तुम यह जान लो कि मैं इतने पर भी अव्यय अकर्ता हूँ।

तात्पर्य : भगवान् प्रत्येक वस्तु के स्रष्टा हैं। प्रत्येक वस्तु उनसे उत्पन्न है, उनके ही द्वारा पालित है और प्रलय के बाद प्रत्येक वस्तु उन्हीं में समा जाती है। अतः वे ही वर्णाश्रम व्यवस्था के स्रष्टा हैं जिसमें सर्वप्रथम बुद्धिमान् मनुष्यों का वर्ग आता है जो सतोगुणी होने के कारण ब्राह्मण कहलाते हैं। द्वितीय वर्ग प्रशासक वर्ग का है जिन्हें रजोगुणी होने के कारण क्षत्रिय कहा जाता है। वणिक वर्ग या वैश्य कहलाने वाले लोग रजो तथा तमोगुण के मिश्रण से युक्त होते हैं और शूद्र या श्रमिकवर्ग के लोग तमोगुणी होते हैं। मानव समाज के इन चार विभागों की सृष्टि करने पर भी भगवान् कृष्ण इनमें से किसी विभाग (वर्ण) में नहीं आते, क्योंकि वे उन बद्धजीवों में से नहीं हैं जिनका एक अंश मानव समाज के रूप में है। मानव समाज भी किसी अन्य पशुसमाज के तुल्य है, किन्तु मनुष्यों को पशु-स्तर से ऊपर उठाने के लिए ही उपर्युक्त वर्णाश्रम की रचना की गई, जिससे क्रमिक रूप से कृष्णभावनामृत विकसित हो सके। किसी विशेष व्यक्ति की किसी कार्य के प्रति प्रवृत्ति का निर्धारण उसके द्वारा अर्जित प्रकृति के गुणों द्वारा किया जाता है। गुणों के अनुसार जीवन के लक्षणों का वर्णन इस ग्रंथ के अठारहवें अध्याय में हुआ है। किन्तु कृष्णभावनाभावित व्यक्ति ब्राह्मण से भी बढ़कर होता है। यद्यपि गुण के अनुसार ब्राह्मण को ब्रह्म या परम सत्य के विषय में ज्ञान होना चाहिए, किन्तु उनमें से अधिकांश भगवान् कृष्ण के निर्विशेष ब्रह्मस्वरूप को ही प्राप्त कर पाते हैं, किन्तु जो मनुष्य ब्राह्मण के सीमित ज्ञान को लाँघकर भगवान् श्रीकृष्ण के ज्ञान तक पहुँच जाता है, वही कृष्णभावनाभावित होता है अर्थात् वैष्णव होता है। कृष्णभावनामृत में कृष्ण के विभिन्न अंशों यथा राम, नृसिंह, वराह आदि का ज्ञान सम्मिलित रहता है। और जिस तरह कृष्ण मानव समाज की इस चातुर्वर्ण्य प्रणाली से परे हैं, उसी तरह कृष्णभावनाभावित व्यक्ति भी इस चातुर्वर्ण्य प्रणाली से परे होता है, चाहे हम इसे जाति का विभाग कहें, चाहे राष्ट्र अथवा सम्प्रदाय का।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥१४॥

न—कभी नहीं; **माम्**—मुझको; **कर्माणि**—सभी प्रकार के कर्म; **लिम्पन्ति**—प्रभावित करते हैं; **न**—नहीं; **मे**—मेरी; **कर्म-फले**—सकाम कर्म में; **स्पृहा**—महत्त्वाकांक्षा; **इति**—इस प्रकार; **माम्**—मुझको; **यः**—जो; **अभिजानाति**—जानता है; **कर्मभिः**—ऐसे कर्म के फल से; **न**—कभी नहीं; **सः**—वह; **बध्यते**—बँध पाता है।

मुझ पर किसी कर्म का प्रभाव नहीं पड़ता, न ही मैं कर्मफल की कामना करता हूँ। जो मेरे सम्बन्ध में इस सत्य को जानता है, वह भी कर्मों के फल के पाश में नहीं बँधता।

तात्पर्य : जिस प्रकार इस भौतिक जगत् में संविधान के नियम हैं, जो यह बताते हैं कि राजा न तो दण्डनीय है, न ही किसी राजनियमों के अधीन रहता है उसी तरह यद्यपि भगवान् इस भौतिक जगत् के स्रष्टा हैं, किन्तु वे भौतिक जगत् के कार्यों से प्रभावित नहीं होते। सृष्टि करने पर भी वे इससे पृथक् रहते हैं, जबकि जीवात्माएँ भौतिक कार्यकलापों के सकाम कर्मफलों में बँधी रहती हैं, क्योंकि उनमें प्राकृतिक साधनों पर प्रभुत्व दिखाने की प्रवृत्ति रहती है। किसी संस्थान का स्वामी कर्मचारियों के अच्छे-बुरे कार्यों के लिए उत्तरदायी नहीं, कर्मचारी इसके लिए स्वयं उत्तरदायी होते हैं। जीवात्माएँ अपने-अपने इन्द्रियतृप्ति-कार्यों में लगी रहती हैं, किन्तु ये कार्य भगवान् द्वारा निर्दिष्ट नहीं होते। इन्द्रियतृप्ति की उत्तरोत्तर उन्नति के लिए जीवात्माएँ इस संसार के कर्म में प्रवृत्त हैं और मृत्यु के बाद स्वर्ग-सुख की कामना करती रहती हैं। स्वयं में पूर्ण होने के कारण भगवान् को तथाकथित स्वर्ग-सुख का कोई आकर्षण नहीं रहता। स्वर्ग के देवता उनके द्वारा नियुक्त सेवक हैं। स्वामी कभी भी कर्मचारियों का सा निम्नस्तरीय सुख नहीं चाहता। वह भौतिक क्रिया-प्रतिक्रिया से पृथक् रहता है। उदाहरणार्थ, पृथ्वी पर उगने वाली विभिन्न वनस्पतियों के उगने के लिए वर्षा उत्तरदायी नहीं है, यद्यपि वर्षा के बिना वनस्पति नहीं उग सकती। वैदिक स्मृति से इस तथ्य की पुष्टि इस प्रकार होती है:

निमित्तमात्रमेवासौ सृज्यानां सर्गकर्मणि।
प्रधानकारणीभूता यतो वै सृज्यशक्तयः॥

"भौतिक सृष्टि के लिए भगवान् ही परम कारण हैं। प्रकृति तो केवल निमित्त कारण है, जिससे विराट जगत् दृष्टिगोचर होता है।" प्राणियों की अनेक जातियाँ होती हैं यथा देवता, मनुष्य तथा निम्नपशु और ये सब पूर्व शुभाशुभ कर्मों के फल भोगने को बाध्य हैं। भगवान् उन्हें ऐसे कर्म करने के लिए केवल समुचित सुविधाएँ तथा प्रकृति के गुणों के नियम सुलभ कराते हैं, किन्तु वे उनके किसी भूत तथा वर्तमान कर्मों के लिए उत्तरदायी नहीं होते। *वेदान्तसूत्र* में (२.१.३४) पुष्टि हुई है कि *वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्*—भगवान् किसी भी जीव के प्रति पक्षपात नहीं करते। जीवात्मा अपने कर्मों के लिए स्वयं उत्तरदायी है। भगवान् उसे प्रकृति अर्थात् बहिरंगा शक्ति के माध्यम से केवल सुविधा प्रदान करने वाले हैं। जो व्यक्ति इस कर्म-नियम की सारी बारीकियों से भलीभाँति अवगत होता है, वह अपने कर्मों के फल से प्रभावित नहीं होता। दूसरे शब्दों में, जो व्यक्ति भगवान् के इस दिव्य स्वभाव से परिचित होता है वह कृष्णभावनामृत में अनुभवी होता है। अतः उस पर कर्म के नियम लागू नहीं होते। जो व्यक्ति भगवान् के दिव्य स्वभाव को नहीं जानता और सोचता है कि भगवान् के कार्यकलाप सामान्य व्यक्तियों की तरह कर्मफल के लिए होते हैं, वे निश्चित रूप से कर्मफलों में बँध जाते हैं। किन्तु जो परम सत्य को जानता है, वह कृष्णभावनामृत में स्थिर मुक्त जीव है।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥ १५॥

एवम्—इस प्रकार; **ज्ञात्वा**—भलीभाँति जान कर; **कृतम्**—किया गया; **कर्म**—कर्म; **पूर्वैः**—पूर्ववर्ती; **अपि**—निस्सन्देह; **मुमुक्षुभिः**—मोक्ष प्राप्त व्यक्तियों द्वारा; **कुरु**—करो; **कर्म**—स्वधर्म, नियतकार्य; **एव**—निश्चय ही; **तस्मात्**—अतएव; **त्वम्**—तुम; **पूर्वैः**—पूर्ववर्तियों द्वारा; **पूर्व-तरम्**—प्राचीन काल में; **कृतम्**—सम्पन्न किया गया।

प्राचीन काल में समस्त मुक्तात्माओं ने मेरी दिव्य प्रकृति को जान करके ही कर्म किया, अतः तुम्हें चाहिए कि उनके पदचिन्हों का अनुसरण करते हुए अपने कर्तव्य का पालन करो।

तात्पर्य : मनुष्यों की दो श्रेणियाँ हैं। कुछ के मनों में दूषित विचार भरे रहते हैं और कुछ भौतिक दृष्टि से स्वतन्त्र होते हैं। कृष्णभावनामृत इन दोनों श्रेणियों के व्यक्तियों के लिए समान रूप से लाभप्रद है। जिनके मनों में दूषित विचार भरे हैं उन्हें चाहिए कि भक्ति के अनुष्ठानों का पालन करते हुए क्रमिक शुद्धिकरण के लिए कृष्णभावनामृत को ग्रहण करें। और जिनके मन पहले ही ऐसी अशुद्धियों से स्वच्छ हो चुके हैं, वे उसी कृष्णभावनामृत में अग्रसर होते रहें, जिससे अन्य लोग उनके आदर्श कार्यों का अनुसरण कर सकें और लाभ उठा सकें। मूर्ख व्यक्ति या कृष्णभावनामृत में नवदीक्षित प्रायः कृष्णभावनामृत का पूरा ज्ञान प्राप्त किये बिना कार्य से विरत होना चाहते हैं। किन्तु भगवान् ने युद्धक्षेत्र के कार्य से विमुख होने की अर्जुन की इच्छा का समर्थन नहीं किया। आवश्यकता इस बात की है कि यह जाना जाय कि किस तरह कर्म किया जाय। कृष्णभावनामृत के कार्यों से विमुख होकर एकान्त में बैठकर कृष्णभावनामृत का प्रदर्शन करना कृष्ण के लिए कार्य में रत होने की अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण है। यहाँ पर अर्जुन को सलाह दी जा रही है कि वह भगवान् के अन्य पूर्व शिष्यों-यथा सूर्यदेव विवस्वान् के पदचिन्हों का अनुसरण करते हुए कृष्णभावनामृत में कार्य करे। अतः वे उसे सूर्यदेव के कार्यों को सम्पन्न करने के लिए आदेश देते हैं जिसे सूर्यदेव ने उनसे लाखों वर्ष पूर्व सीखा था। यहाँ पर भगवान् कृष्ण के ऐसे सारे शिष्यों का उल्लेख पूर्ववर्ती मुक्त पुरुषों के रूप में हुआ है, जो कृष्ण द्वारा नियत कर्मों को सम्पन्न करने में लगे हुए थे।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ १६॥

किम्—क्या है; **कर्म**—कर्म; **किम्**—क्या है; **अकर्म**—अकर्म, निष्क्रियता; **इति**—इस प्रकार; **कवयः**—बुद्धिमान्; **अपि**—भी; **अत्र**—इस विषय में; **मोहिताः**—मोहग्रस्त रहते हैं; **तत्**—वह; **ते**—तुमको; **कर्म**—कर्म; **प्रवक्ष्यामि**—कहूँगा; **यत्**—जिसे; **ज्ञात्वा**—जानकर; **मोक्ष्यसे**—तुम्हारा उद्धार होगा; **अशुभात्**—अकल्याण से, अशुभ से।

कर्म क्या है और अकर्म क्या है, इसे निश्चित करने में बुद्धिमान् व्यक्ति भी मोहग्रस्त हो जाते हैं। अतएव मैं तुमको बताऊँगा कि कर्म क्या है, जिसे जानकर तुम सारे

अशुभ से मुक्त हो सकोगे।

तात्पर्य : कृष्णभावनामृत में जो कर्म किया जाय वह पूर्ववर्ती प्रामाणिक भक्तों के आदर्श के अनुसार होना चाहिए। इसका निर्देश १५वें श्लोक में किया गया है। ऐसा कर्म स्वतन्त्र क्यों नहीं होना चाहिए, इसकी व्याख्या अगले श्लोक में की गई है।

कृष्णभावनामृत में कर्म करने के लिए मनुष्य को उन प्रामाणिक पुरुषों के नेतृत्व का अनुगमन करना होता है, जो गुरु-परम्परा में हों, जैसा कि इस अध्याय के प्रारम्भ में कहा जा चुका है। कृष्णभावनामृत पद्धति का उपदेश सर्वप्रथम सूर्यदेव को दिया गया, जिन्होंने इसे अपने पुत्र मनु से कहा, मनु ने इसे अपने पुत्र इक्ष्वाकु से कहा और यह पद्धति तबसे इस पृथ्वी पर चली आ रही है। अतः परम्परा के पूर्ववर्ती अधिकारियों के पदचिन्हों का अनुसरण करना आवश्यक है। अन्यथा बुद्धिमान् से बुद्धिमान् मनुष्य भी कृष्णभावनामृत के आदर्श कर्म के विषय में मोहग्रस्त हो जाते हैं। इसीलिए भगवान् ने स्वयं ही अर्जुन को कृष्णभावनामृत का उपदेश देने का निश्चय किया। अर्जुन को साक्षात् भगवान् ने शिक्षा दी, अतः जो भी अर्जुन के पदचिन्हों पर चलेगा वह कभी मोहग्रस्त नहीं होगा।

कहा जाता है कि अपूर्ण प्रायोगिक ज्ञान के द्वारा धर्म-पथ का निर्णय नहीं किया जा सकता। वस्तुतः धर्म को केवल भगवान् ही निश्चित कर सकते हैं। *धर्मं तु साक्षात्भगवत्प्रणीतम्* (*भागवत्* ६.३.१९)। अपूर्ण चिन्तन द्वारा कोई किसी धार्मिक सिद्धान्त का निर्माण नहीं कर सकता। मनुष्य को चाहिए कि ब्रह्मा, शिव, नारद, मनु, चारों कुमार, कपिल, प्रह्लाद, भीष्म, शुकदेव गोस्वामी, यमराज, जनक तथा बलि महाराज जैसे महान अधिकारियों के पदचिन्हों का अनुसरण करे। केवल मानसिक चिन्तन द्वारा यह निर्धारित करना कठिन है कि धर्म या आत्म-साक्षात्कार क्या है। अतः भगवान् अपने भक्तों पर अहैतुकी कृपावश स्वयं ही अर्जुन को बता रहे हैं कि कर्म क्या है और अकर्म क्या है। केवल कृष्णभावनामृत में किया गया कर्म ही मनुष्य को भवबन्धन से उबार सकता है।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥१७॥

कर्मणः—कर्म का; **हि**—निश्चय ही; **अपि**—भी; **बोद्धव्यम्**—समझना चाहिए; **बोद्धव्यम्**—समझना चाहिए; **च**—भी; **विकर्मणः**—वर्जित कर्म का; **अकर्मणः**—अकर्म का; **च**—भी; **बोद्धव्यम्**—समझना चाहिए; **गहना**—अत्यन्त कठिन, दुर्गम; **कर्मणः**—कर्म की; **गतिः**—प्रवेश, गति।

कर्म की बारीकियों को समझना अत्यन्त कठिन है। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह यह ठीक से जाने कि कर्म क्या है, विकर्म क्या है और अकर्म क्या है।

तात्पर्य : यदि कोई सचमुच ही भव-बन्धन से मुक्ति चाहता है तो उसे कर्म, अकर्म तथा विकर्म के अन्तर को समझना होगा। कर्म, अकर्म तथा विकर्म के विश्लेषण की आवश्यकता है, क्योंकि यह अत्यन्त गहन विषय है। कृष्णभावनामृत को तथा गुणों के अनुसार कर्म को समझने के लिए परमेश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को जानना होगा।

दूसरे शब्दों में, जिसने यह भलीभाँति समझ लिया है, वह जानता है कि जीवात्मा भगवान् का नित्य दास है और फलस्वरूप उसे कृष्णभावनामृत में कार्य करना है। सम्पूर्ण *भगवद्गीता* का यही लक्ष्य है। इस भावनामृत के विरुद्ध सारे निष्कर्ष एवं परिणाम विकर्म या निषिद्ध कर्म हैं। इसे समझने के लिए मनुष्य को कृष्णभावनामृत के अधिकारियों की संगति करनी होती है और उनसे रहस्य को समझना होता है। यह साक्षात् भगवान् से समझने के समान है। अन्यथा बुद्धिमान् से बुद्धिमान् मनुष्य भी मोहग्रस्त हो जाएगा।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥१८॥

कर्मणि—कर्म में; **अकर्म**—अकर्म; **यः**—जो; **पश्येत्**—देखता है; **अकर्मणि**—अकर्म में; **च**—भी; **कर्म**—सकाम कर्म; **यः**—जो; **सः**—वह; **बुद्धिमान्**—बुद्धिमान् है; **मनुष्येषु**—मानव समाज में; **सः**—वह; **युक्तः**—दिव्य स्थिति को प्राप्त; **कृत्स्न-कर्म-कृत्**—सारे कर्मों में लगा रहकर भी।

जो मनुष्य कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखता है, वह सभी मनुष्यों में बुद्धिमान् है और सब प्रकार के कर्मों में प्रवृत्त रहकर भी दिव्य स्थिति में रहता है।

तात्पर्य : कृष्णभावनामृत में कार्य करने वाला व्यक्ति स्वभावतः कर्म-बन्धन से मुक्त होता है। उसके सारे कर्म कृष्ण के लिए होते हैं, अतः कर्म के फल से उसे कोई लाभ या हानि नहीं होती। फलस्वरूप वह मानव समाज में बुद्धिमान् होता है, यद्यपि वह कृष्ण के लिए सभी तरह के कर्मों में लगा रहता है। अकर्म का अर्थ है—कर्म के फल के बिना। निर्विशेषवादी इस भय से सारे कर्म करना बन्द कर देता है, कि कर्मफल उसके आत्म-साक्षात्कार के मार्ग में बाधक न हो, किन्तु सगुणवादी अपनी इस स्थिति से भलीभाँति परिचित रहता है कि वह भगवान् का नित्य दास है। अतः वह अपने आपको कृष्णभावनामृत के कार्यों में तत्पर रखता है। चूँकि सारे कर्म कृष्ण के लिए किये जाते हैं, अतः इस सेवा के करने में उसे दिव्य सुख प्राप्त होता है। जो इस विधि में लगे रहते हैं वे व्यक्तिगत इन्द्रियतृप्ति की इच्छा से रहित होते हैं। कृष्ण के प्रति उसका नित्य दास्यभाव उसे सभी प्रकार के कर्मफल से मुक्त करता है।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥१९॥

यस्य—जिसके; **सर्वे**—सभी प्रकार के; **समारम्भाः**—प्रयत्न, उद्यम; **काम**—इन्द्रियतृप्ति के लिए इच्छा पर आधारित; **संकल्प**—निश्चय; **वर्जिताः**—से रहित हैं; **ज्ञान**—पूर्ण ज्ञान की; **अग्नि**—अग्नि द्वारा; **दग्धः**—भस्म हुए; **कर्माणम्**—जिसका कर्म; **तम्**—उसको; **आहुः**—कहते हैं; **पण्डितम्**—बुद्धिमान्; **बुधाः**—ज्ञानी।

जिस व्यक्ति का प्रत्येक प्रयास (उद्यम) इन्द्रियतृप्ति की कामना से रहित होता है, उसे पूर्णज्ञानी समझा जाता है। उसे ही साधु पुरुष ऐसा कर्ता कहते हैं, जिसने पूर्णज्ञान की अग्नि से कर्मफलों को भस्मसात् कर दिया है।

तात्पर्य : केवल पूर्णज्ञानी ही कृष्णभावनाभावित व्यक्ति के कार्यकलापों को समझ सकता है। ऐसे व्यक्ति में इन्द्रियतृप्ति की प्रवृत्ति का अभाव रहता है, इससे यह समझा जाता है कि भगवान् के नित्य दास के रूप में उसे अपने स्वाभाविक स्वरूप का पूर्णज्ञान है जिसके द्वारा उसने अपने कर्मफलों को भस्म कर दिया है। जिसने ऐसा पूर्णज्ञान प्राप्त कर लिया है वह सचमुच विद्वान् है। भगवान् की नित्य दासता के इस ज्ञान के विकास की तुलना अग्नि से की गई है। ऐसी अग्नि एक बार प्रज्ज्वलित हो जाने पर कर्म के सारे फलों को भस्म कर सकती है।

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥ २०॥

त्यक्त्वा—त्याग कर; **कर्म-फल-आसङ्गम्**—कर्मफल की आसक्ति; **नित्य**—सदा; **तृप्तः**—तृप्त; **निराश्रयः**—आश्रयरहित; **कर्मणि**—कर्म में; **अभिप्रवृत्तः**—पूर्ण तत्पर रह कर; **अपि**—भी; **न**—नहीं; **एव**—निश्चय ही; **किञ्चित्**—कुछ भी; **करोति**—करता है; **सः**—वह।

अपने कर्मफलों की सारी आसक्ति को त्याग कर सदैव संतुष्ट तथा स्वतन्त्र रहकर वह सभी प्रकार के कार्यों में व्यस्त रहकर भी कोई सकाम कर्म नहीं करता।

तात्पर्य : कर्मों के बन्धन से इस प्रकार की मुक्ति तभी सम्भव है, जब मनुष्य कृष्णभावनाभावित होकर हर कार्य कृष्ण के लिए करे। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति भगवान् के शुद्ध प्रेमवश ही कर्म करता है, फलस्वरूप उसे कर्मफलों के प्रति कोई आकर्षण नहीं रहता। यहाँ तक कि उसे अपने शरीर-निर्वाह के प्रति भी कोई आकर्षण नहीं रहता, क्योंकि वह पूर्णतया कृष्ण पर आश्रित रहता है। वह न तो किसी वस्तु को प्राप्त करना चाहता है और न अपनी वस्तुओं की रक्षा करना चाहता है। वह अपनी पूर्ण सामर्थ्य से अपना कर्तव्य करता है और कृष्ण पर सब कुछ छोड़ देता है। ऐसा अनासक्त व्यक्ति शुभ-अशुभ कर्मफलों से मुक्त रहता है, मानो वह कुछ भी नहीं कर रहा हो। यह अकर्म अर्थात् निष्काम कर्म का लक्षण है। अतः कृष्णभावनामृत से रहित कोई भी कार्य कर्ता पर बन्धनस्वरूप होता है और विकर्म का यही असली रूप है, जैसा कि पहले बताया जा चुका है।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ २१॥

निराशीः—फल की आकांक्षा से रहित, निष्काम; **यत**—संयमित; **चित्त-आत्मा**—मन तथा बुद्धि; **त्यक्त**—छोड़ा; **सर्व**—समस्त; **परिग्रहः**—स्वामित्व; **शारीरम्**—प्राण रक्षा; **केवलम्**—मात्र; **कर्म**—कर्म; **कुर्वन्**—करते हुए; **न**—कभी नहीं; **आप्नोति**—प्राप्त करता है; **किल्बिषम्**—पापपूर्ण फल।

ऐसा ज्ञानी पुरुष पूर्णरूप से संयमित मन तथा बुद्धि से कार्य करता है, अपनी सम्पत्ति के सारे स्वामित्व को त्याग देता है और केवल शरीर-निर्वाह के लिए कर्म करता है। इस तरह कार्य करता हुआ वह पाप रूपी फलों से प्रभावित नहीं होता है।

तात्पर्य : कृष्णभावनाभावित व्यक्ति कर्म करते समय कभी भी शुभ या अशुभ फल की आशा नहीं रखता। उसके मन तथा बुद्धि पूर्णतया वश में होते हैं। वह जानता है कि वह परमेश्वर का भिन्न अंश है, अतः अंश रूप में उसके द्वारा सम्पन्न कोई भी कर्म उसका न होकर उसके माध्यम से परमेश्वर द्वारा सम्पन्न हुआ होता है। जब हाथ हिलता है तो यह स्वेच्छा से नहीं हिलता, अपितु सारे शरीर की चेष्टा से हिलता है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति भगवदिच्छा का अनुगामी होता है क्योंकि उसकी निजी इन्द्रियतृप्ति की कोई कामना नहीं होती। वह यन्त्र के एक पुर्जे की भाँति हिलता-डुलता है। जिस प्रकार रखरखाव के लिए पुर्जे को तेल और सफाई की आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार कृष्णभावनाभावित व्यक्ति कर्म के द्वारा अपना निर्वाह करता रहता है, जिससे वह भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति करने के लिए ठीक बना रहे। अतः वह अपने प्रयासों के फलों के प्रति निश्चेष्ट रहता है। पशु के समान ही उसका अपने शरीर पर कोई अधिकार नहीं होता। कभी-कभी क्रूर स्वामी अपने अधीन पशु को मार भी डालता है, तो भी पशु विरोध नहीं करता, न ही उसे कोई स्वाधीनता होती है। आत्म-साक्षात्कार में पूर्णतया तत्पर कृष्णभावनाभावित व्यक्ति के पास इतना समय नहीं रहता कि वह अपने पास कोई भौतिक वस्तु रख सके। अपने जीवन-निर्वाह के लिए उसे अनुचित साधनों के द्वारा धनसंग्रह करने की आवश्यकता नहीं रहती। अतः वह ऐसे भौतिक पापों से कल्मषग्रस्त नहीं होता। वह अपने समस्त कर्मफलों से मुक्त रहता है।

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥ २२॥

यदृच्छा—स्वतः; **लाभ**—लाभ से; **सन्तुष्टः**—सन्तुष्ट; **द्वन्द्व**—द्वन्द्व से; **अतीतः**—परे; **विमत्सरः**—ईर्ष्यारहित; **समः**—स्थिरचित्त; **सिद्धौ**—सफलता में; **असिद्धौ**—असफलता में; **च**—भी; **कृत्वा**—करके; **अपि**—यद्यपि; **न**—कभी नहीं; **निबध्यते**—प्रभावित होता है, बँधता है।

जो स्वतः होने वाले लाभ से संतुष्ट रहता है, जो द्वन्द्व से मुक्त है और ईर्ष्या नहीं करता, जो सफलता तथा असफलता दोनों में स्थिर रहता है, वह कर्म करता हुआ भी कभी बँधता नहीं।

तात्पर्य : कृष्णभावनाभावित व्यक्ति अपने शरीर-निर्वाह के लिए भी अधिक प्रयास नहीं करता। वह अपने आप होने वाले लाभों से संतुष्ट रहता है। वह न तो माँगता है, न उधार लेता है, किन्तु यथासामर्थ्य वह सच्चाई से कर्म करता है और अपने श्रम से जो प्राप्त हो पाता है, उसी से संतुष्ट रहता है। अतः वह अपनी जीविका के विषय में स्वतन्त्र रहता है। वह अन्य किसी की सेवा करके कृष्णभावनामृत सम्बन्धी अपनी सेवा में व्यवधान नहीं आने देता। किन्तु भगवान् की सेवा के लिए वह संसार की द्वैतता से विचलित हुए बिना कोई भी कर्म कर सकता है। संसार की यह द्वैतता गर्मी-सर्दी अथवा सुख-दुख के रूप में अनुभव की जाती है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति द्वैतता से परे रहता है, क्योंकि कृष्ण को प्रसन्न करने के लिए वह कोई भी कर्म करने में झिझकता नहीं।

अतः वह सफलता तथा असफलता दोनों में ही समभाव रहता है। ये लक्षण तभी दिखते हैं जब कोई दिव्य ज्ञान में पूर्णतः स्थित हो।

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥ २३॥

गत-सङ्गस्य—प्रकृति के गुणों के प्रति अनासक्त; **मुक्तस्य**—मुक्त पुरुष का; **ज्ञान-अवस्थित**—ब्रह्म में स्थित; **चेतसः**—जिसका ज्ञान; **यज्ञाय**—यज्ञ (कृष्ण) के लिए; **आचरतः**—करते हुए; **कर्म**—कर्म; **समग्रम्**—सम्पूर्ण; **प्रविलीयते**—पूर्णरूप से विलीन हो जाता है।

जो पुरुष प्रकृति के गुणों के प्रति अनासक्त है और जो दिव्य ज्ञान में पूर्णतया स्थित है, उसके सारे कर्म ब्रह्म में लीन हो जाते हैं।

तात्पर्य : पूर्णरूपेण कृष्णभावनाभावित होने पर मनुष्य समस्त द्वन्द्वों से मुक्त हो जाता है और इस तरह भौतिक गुणों के कल्मष से भी मुक्त हो जाता है। वह इसीलिए मुक्त हो जाता है क्योंकि वह कृष्ण के साथ अपने सम्बन्ध की स्वाभाविक स्थिति को जानता है, फलस्वरूप उसका चित्त कृष्णभावनामृत से विचलित नहीं होता। अतएव वह जो कुछ भी करता है, वह आदिविष्णु कृष्ण के लिए होता है। अतः उसका सारा कर्म यज्ञरूप होता है, क्योंकि यज्ञ का उद्देश्य परम पुरुष विष्णु अर्थात् कृष्ण को प्रसन्न करना है। ऐसे यज्ञमय कर्म का फल निश्चय ही ब्रह्म में विलीन हो जाता है और मनुष्य को कोई भौतिक फल नहीं भोगना पड़ता है।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥ २४॥

ब्रह्म—आध्यात्मिक; **अर्पणम्**—अर्पण; **ब्रह्म**—ब्रह्म; **हविः**—घृत; **ब्रह्म**—आध्यात्मिक; **अग्नौ**—हवन रूपी अग्नि में; **ब्रह्मणा**—आत्मा द्वारा; **हुतम्**—अर्पित; **ब्रह्म**—परमधाम; **एव**—निश्चय ही; **तेन**—उसके द्वारा; **गन्तव्यम्**—पहुँचने योग्य; **ब्रह्म**—आध्यात्मिक; **कर्म**—कर्म में; **समाधिना**—पूर्ण एकाग्रता के द्वारा।

जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत में पूर्णतया लीन रहता है, उसे अपने आध्यात्मिक कर्मों के योगदान के कारण अवश्य ही भगवद्धाम की प्राप्ति होती है, क्योंकि उसमें हवन आध्यात्मिक होता है और हवि भी आध्यात्मिक होती है।

तात्पर्य : यहाँ इसका वर्णन किया गया है कि किस प्रकार कृष्णभावनाभावित कर्म करते हुए अन्ततोगत्वा आध्यात्मिक लक्ष्य प्राप्त होता है। कृष्णभावनामृत विषयक विविध कर्म होते हैं, जिनका वर्णन अगले श्लोकों में किया गया है, किन्तु इस श्लोक में तो केवल कृष्णभावनामृत का सिद्धान्त वर्णित है। भौतिक कल्मष से ग्रस्त बद्धजीव को भौतिक वातावरण में ही कार्य करना पड़ता है, किन्तु फिर भी उसे ऐसे वातावरण से निकलना ही होगा। जिस विधि से वह ऐसे वातावरण से बाहर निकल सकता है, वह कृष्णभावनामृत है। उदाहरण के लिए, यदि कोई रोगी दूध की बनी वस्तुओं के अधिक खाने से पेट की गड़बड़ी से ग्रस्त हो जाता है तो उसे दही दिया जाता है, जो दूध ही

से बनी अन्य वस्तु है। भौतिकता में ग्रस्त बद्धजीव का उपचार कृष्णभावनामृत के द्वारा ही किया जा सकता है जो यहाँ *गीता* में दिया हुआ है। यह विधि यज्ञ या विष्णु या कृष्ण को प्रसन्न करने के लिए किये गये कार्य कहलाती है। भौतिक जगत् के जितने ही अधिक कार्य कृष्णभावनामृत में या केवल विष्णु के लिए किये जाते हैं पूर्ण तल्लीनता से वातावरण उतना ही अधिक आध्यात्मिक बनता रहता है। *ब्रह्म* शब्द का अर्थ है 'आध्यात्मिक'। भगवान् आध्यात्मिक हैं और उनके दिव्य शरीर की किरणें ब्रह्मज्योति कहलाती हैं—यही उनका आध्यात्मिक तेज है। प्रत्येक वस्तु इसी ब्रह्मज्योति में स्थित रहती है, किन्तु जब यह ज्योति माया या इन्द्रियतृप्ति द्वारा आच्छादित हो जाती है तो यह भौतिक ज्योति कहलाती है। यह भौतिक आवरण कृष्णभावनामृत द्वारा तुरन्त हटाया जा सकता है। अतएव कृष्णभावनामृत के लिए अर्पित हवि, ग्रहणकर्ता, हवन, होता तथा फल—ये सब मिलकर ब्रह्म या परम सत्य हैं। माया द्वारा आच्छादित परम सत्य पदार्थ कहलाता है। जब यही पदार्थ परम सत्य के निमित्त प्रयुक्त होता है, तो इसमें फिर से आध्यात्मिक गुण आ जाता है। कृष्णभावनामृत मोहजनित चेतना को ब्रह्म या परमेश्वरोन्मुख करने की विधि है। जब मन कृष्णभावनामृत में पूरी तरह निमग्न रहता है तो उसे समाधि कहते हैं। ऐसी दिव्यचेतना में सम्पन्न कोई भी कार्य यज्ञ कहलाता है। आध्यात्मिक चेतना की ऐसी स्थिति में होता, हवन, अग्नि, यज्ञकर्ता तथा अन्तिम फल—यह सब परब्रह्म में एकाकार हो जाता है। यही कृष्णभावनामृत की विधि है।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥ २५॥

दैवम्—देवताओं की पूजा करने में; **एव**—इस प्रकार; **अपरे**—अन्य; **यज्ञम्**—यज्ञ को; **योगिनः**—योगीजन; **पर्युपासते**—भलीभाँति पूजा करते हैं; **ब्रह्म**—परम सत्य का; **अग्नौ**—अग्नि में; **अपरे**—अन्य; **यज्ञम्**—यज्ञ को; **यज्ञेन**—यज्ञ से; **एव**—इस प्रकार; **उपजुह्वति**—अर्पित करते हैं।

कुछ योगी विभिन्न प्रकार के यज्ञों द्वारा देवताओं की भलीभाँति पूजा करते हैं और कुछ परब्रह्म रूपी अग्नि में आहुति डालते हैं।

तात्पर्य : जैसा कि पहले कहा जा चुका है, जो व्यक्ति कृष्णभावनाभावित होकर अपना कर्म करने में लीन रहता है वह पूर्ण योगी है, किन्तु ऐसे भी मनुष्य हैं जो देवताओं की पूजा करने के लिए यज्ञ करते हैं और कुछ परम ब्रह्म या परमेश्वर के निराकार स्वरूप के लिए यज्ञ करते हैं। इस तरह यज्ञ की अनेक कोटियाँ हैं। विभिन्न यज्ञकर्ताओं द्वारा सम्पन्न यज्ञ की ये कोटियाँ केवल बाह्य वर्गीकरण हैं। वस्तुतः यज्ञ का अर्थ है—भगवान् विष्णु को प्रसन्न करना और विष्णु को यज्ञ भी कहते हैं। विभिन्न प्रकार के यज्ञों को दो श्रेणियों में रखा जा सकता है। सांसारिक द्रव्यों के लिए यज्ञ (द्रव्ययज्ञ) तथा दिव्यज्ञान के लिए किये गये यज्ञ (ज्ञानयज्ञ)। जो कृष्णभावनाभावित हैं उनकी सारी भौतिक सम्पदा परमेश्वर को प्रसन्न करने के लिए होती है, किन्तु जो किसी क्षणिक भौतिक सुख की कामना करते हैं वे इन्द्र, सूर्य आदि देवताओं को प्रसन्न करने के लिए अपनी भौतिक सम्पदा की आहुति देते हैं। किन्तु अन्य लोग, जो निर्विशेषवादी हैं, वे

निराकार ब्रह्म में अपने स्वरूप को स्वाहा कर देते हैं। देवतागण ऐसी शक्तिमान् जीवात्माएँ हैं जिन्हें ब्रह्माण्ड को ऊष्मा प्रदान करने, जल देने तथा प्रकाशित करने जैसे भौतिक कार्यों की देखरेख के लिए परमेश्वर ने नियुक्त किया है। जो लोग भौतिक लाभ चाहते हैं वे वैदिक अनुष्ठानों के अनुसार विविध देवताओं की पूजा करते हैं। ऐसे लोग बह्वीश्वरवादी कहलाते हैं। किन्तु जो लोग परम सत्य के निर्गुण स्वरूप की पूजा करते हैं और देवताओं के स्वरूपों को अनित्य मानते हैं, वे ब्रह्मकी अग्नि में अपने आप की ही आहुति दे देते हैं, और इस प्रकार ब्रह्म के अस्तित्व में अपने अस्तित्व को समाप्त कर देते हैं। ऐसे निर्विशेषवादी परमेश्वर की दिव्यप्रकृति को समझने के लिए दार्शनिक चिन्तन में अपना सारा समय लगाते हैं। दूसरे शब्दों में, सकामकर्मी भौतिकसुख के लिए अपनी भौतिक सम्पत्ति का यजन करते हैं, किन्तु निर्विशेषवादी परब्रह्म में लीन होने के लिए अपनी भौतिक उपाधियों का यजन करते हैं। निर्विशेषवादी के लिए यज्ञाग्नि ही परब्रह्म है, जिसमें आत्मस्वरूप का विलय ही आहुति है। किन्तु अर्जुन जैसा कृष्णभावनाभावित व्यक्ति कृष्ण को प्रसन्न करने के लिए सर्वस्व अर्पित कर देता है। इस तरह उसकी सारी भौतिक सम्पत्ति के साथ-साथ आत्मस्वरूप भी कृष्ण के लिए अर्पित हो जाता है। वह परम योगी है, किन्तु उसका पृथक् स्वरूप नष्ट नहीं होता।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति।। २६।।

श्रोत्र-आदीनि—श्रोत्र आदि; **इन्द्रियाणि**—इन्द्रियाँ; **अन्ये**—अन्य; **संयम**—संयम की; **अग्निषु**—अग्नि में; **जुह्वति**—अर्पित करते हैं; **शब्द-आदीन्**—शब्द आदि; **विषयान्**—इन्द्रियतृप्ति के विषयों को; **अन्ये**—दूसरे; **इन्द्रिय**—इन्द्रियों की; **अग्निषु**—अग्नि में; **जुह्वति**—यजन करते हैं।

इनमें से कुछ (विशुद्ध ब्रह्मचारी) श्रवणादि क्रियाओं तथा इन्द्रियों को मन की नियन्त्रण रूपी अग्नि में स्वाहा कर देते हैं तो दूसरे लोग (नियमित गृहस्थ) इन्द्रियविषयों को इन्द्रियों की अग्नि में स्वाहा कर देते हैं।

तात्पर्य : मानव जीवन के चारों आश्रमों के सदस्य—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी—पूर्णयोगी बनने के निमित्त हैं। मानव जीवन पशुओं की भाँति इन्द्रियतृप्ति के लिए नहीं बना है, अतएव मानव जीवन के चारों आश्रम इस प्रकार व्यवस्थित हैं कि मनुष्य आध्यात्मिक जीवन में पूर्णता प्राप्त कर सके। ब्रह्मचारी या शिष्यगण प्रामाणिक गुरु की देखरेख में इन्द्रियतृप्ति से दूर रहकर मन को वश में करते हैं। वे कृष्णभावनामृत से सम्बन्धित शब्दों को ही सुनते हैं। श्रवण ज्ञान का मूलाधार है, अतः शुद्ध ब्रह्मचारी सदैव *हरेर्नामानुकीर्तनम्* अर्थात् भगवान् के यश के कीर्तन तथा श्रवण में ही लगा रहता है। वह सांसारिक शब्द-ध्वनियों से दूर रहता है और उसकी श्रवणेन्द्रिय *हरे कृष्ण हरे कृष्ण* की आध्यात्मिक ध्वनि को सुनने में ही लगी रहती है। इसी प्रकार से गृहस्थ भी, जिन्हें इन्द्रियतृप्ति की सीमित छूट है, बड़े ही संयम से इन कार्यों को पूरा करते हैं। यौन जीवन, मादकद्रव्य सेवन और मांसाहार मानव समाज की सामान्य प्रवृत्तियाँ हैं, किन्तु

संयमित गृहस्थ कभी भी यौन जीवन तथा अन्य इन्द्रियतृप्ति के कार्यों में अनियन्त्रित रूप से प्रवृत्त नहीं होता। इसी उद्देश्य से प्रत्येक सभ्य मानव समाज में धर्म-विवाह का प्रचलन है। यह संयमित अनासक्त यौन जीवन भी एक प्रकार का यज्ञ है, क्योंकि संयमित गृहस्थ उच्चतर दिव्य जीवन के लिए अपनी इन्द्रियतृप्ति की प्रवृत्ति की आहुति कर देता है।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥ २७॥

सर्वाणि—सारी; **इन्द्रिय**—इन्द्रियों के; **कर्माणि**—कर्म; **प्राण-कर्माणि**—प्राणवायु के कार्यों को; **च**—भी; **अपरे**—अन्य; **आत्म-संयम**—मनोनिग्रह को; **योग**—संयोजन विधि; **अग्नौ**—अग्नि में; **जुह्वति**—अर्पित करते हैं; **ज्ञान-दीपिते**—आत्म-साक्षात्कार की लालसा के कारण।

दूसरे, जो मन तथा इन्द्रियों को वश में करके आत्म-साक्षात्कार करना चाहते हैं, सम्पूर्ण इन्द्रियों तथा प्राणवायु के कार्यों को संयमित मन रूपी अग्नि में आहुति कर देते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर पतञ्जलि द्वारा सूत्रबद्ध योगपद्धति का निर्देश है। पतंजलि कृत योगसूत्र में आत्मा को *प्रत्यगात्मा* तथा *परागात्मा* कहा गया है। जब तक जीवात्मा इन्द्रियभोग में आसक्त रहता है तब तक वह *परागात्मा* कहलाता है और ज्योंही वह इन्द्रियभोग से विरत हो जाता है तो *प्रत्यगात्मा* कहलाने लगता है। जीवात्मा के शरीर में दस प्रकार के वायु कार्यशील रहते हैं और इसे श्वासप्रक्रिया (प्राणायाम) द्वारा जाना जाता है। पतंजलि की योगपद्धति बताती है कि किस तरह शरीर के वायु के कार्यों को तकनीकी उपाय से नियन्त्रित किया जाए जिससे अन्ततः वायु के सभी आन्तरिक कार्य आत्मा को भौतिक आसक्ति से शुद्ध करने में सहायक बन जाएँ। इस योगपद्धति के अनुसार *प्रत्यगात्मा* ही चरम उद्देश्य है। यह *प्रत्यगात्मा* पदार्थ की क्रियाओं से प्राप्त की जाती है। इन्द्रियाँ इन्द्रियविषयों से प्रतिक्रिया करती हैं, यथा कान सुनने के लिए, आँख देखने के लिए, नाक सूँघने के लिए, जीभ स्वाद के लिए तथा हाथ स्पर्श के लिए हैं, और ये सब इन्द्रियाँ मिलकर आत्मा से बाहर के कार्यों में लगी रहती हैं। ये ही कार्य प्राणवायु के व्यापार (क्रियाएँ) हैं। अपान वायु नीचे की ओर जाती है, व्यान वायु से संकोच तथा प्रसार होता है, समान वायु से संतुलन बना रहता है और उदान वायु ऊपर की ओर जाती है और जब मनुष्य प्रबुद्ध हो जाता है तो वह इन सभी वायुओं को आत्म-साक्षात्कार की खोज में लगाता है।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥ २८॥

द्रव्य-यज्ञाः—अपनी सम्पत्ति का यज्ञ; **तपः-यज्ञाः**—तपों का यज्ञ; **योग-यज्ञाः**—अष्टांग योग में यज्ञ; **तथा**—इस प्रकार; **अपरे**—अन्य; **स्वाध्याय**—वेदाध्ययन रूपी यज्ञ; **ज्ञान-यज्ञाः**—दिव्य ज्ञान की प्रगति हेतु यज्ञ; **च**—भी; **यतयः**—प्रबुद्ध पुरुष; **संशित-व्रताः**—दृढ व्रतधारी।

कठोर व्रत अंगीकार करके कुछ लोग अपनी सम्पत्ति का त्याग करके, कुछ कठिन तपस्या द्वारा, कुछ अष्टांग योगपद्धति के अभ्यास द्वारा अथवा दिव्यज्ञान में उन्नति करने के लिए वेदों के अध्ययन द्वारा प्रबुद्ध बनते हैं।

तात्पर्य : इन यज्ञों के कई वर्ग किये जा सकते हैं। बहुत से लोग विविध प्रकार के दान-पुण्य द्वारा अपनी सम्पत्ति का यजन करते हैं। भारत में धनाढ्य व्यापारी या राजवंशी अनेक प्रकार की धर्मार्थ संस्थाएँ खोल देते हैं—यथा धर्मशाला, अन्न क्षेत्र, अतिथिशाला, अनाथालय तथा विद्यापीठ। अन्य देशों में भी अनेक अस्पताल, बूढ़ों के लिए आश्रम तथा गरीबों को भोजन, शिक्षा तथा चिकित्सा की सुविधाएँ प्रदान करने के दातव्य संस्थान हैं। ये सब दानकर्म *द्रव्यमय यज्ञ* हैं। अन्य लोग जीवन में उन्नति करने अथवा उच्चलोकों में जाने के लिए चान्द्रायण तथा चातुर्मास्य जैसे विविध तप करते हैं। इन विधियों के अन्तर्गत कतिपय कठोर नियमों के अधीन कठिन व्रत करने होते हैं। उदाहरणार्थ, चातुर्मास्य व्रत रखने वाला वर्ष के चार मासों में (जुलाई से अक्टूबर तक) बाल नहीं कटाता, न ही कतिपय खाद्य वस्तुएँ खाता है और न दिन में दो बार खाता है, न निवास-स्थान छोड़कर कहीं जाता है। जीवन के सुखों का ऐसा परित्याग *तपोमय यज्ञ* कहलाता है। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो अनेक योगपद्धतियों का अनुसरण करते हैं यथा पतंजलि पद्धति (ब्रह्म में तदाकार होने के लिए) अथवा हठयोग या अष्टांगयोग (विशेष सिद्धियों के लिए)। कुछ लोग समस्त तीर्थस्थानों की यात्रा करते हैं। ये सारे अनुष्ठान योग-यज्ञ कहलाते हैं, जो भौतिक जगत् में किसी सिद्धि विशेष के लिए किये जाते हैं। कुछ लोग ऐसे हैं जो विभिन्न वैदिक साहित्य यथा उपनिषद् तथा वेदान्तसूत्र या सांख्यदर्शन के अध्ययन में अपना ध्यान लगाते हैं। इसे *स्वाध्याय यज्ञ* कहा जाता है। ये सारे योगी विभिन्न प्रकार के यज्ञों में लगे रहते हैं और उच्चजीवन की तलाश में रहते हैं। किन्तु कृष्णभावनामृत इनसे पृथक् है क्योंकि यह परमेश्वर की प्रत्यक्ष सेवा है। इसे उपर्युक्त किसी भी यज्ञ से प्राप्त नहीं किया जा सकता, अपितु भगवान् तथा उनके प्रामाणिक भक्तों की कृपा से ही प्राप्त किया जा सकता है। फलतः कृष्णभावनामृत दिव्य है।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः।
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति॥ २९॥

अपाने—निम्नगामी वायु में; **जुह्वति**—अर्पित करते हैं; **प्राणम्**—प्राण को; **प्राणे**—प्राण में; **अपानम्**—निम्नगामी वायु को; **तथा**—ऐसे ही; **अपरे**—अन्य; **प्राण**—प्राण का; **अपान**—निम्नगामी वायु; **गती**—गति को; **रुद्ध्वा**—रोककर; **प्राण-आयाम**—श्वास रोक कर समाधि में; **परायणाः**—प्रवृत्त; **अपरे**—अन्य; **नियत**—संयमित, अल्प; **आहाराः**—खाकर; **प्राणान्**—प्राणों को; **प्राणेषु**—प्राणों में; **जुह्वति**—हवन करते हैं, अर्पित करते हैं।

अन्य लोग भी हैं जो समाधि में रहने के लिए श्वास को रोके रहते हैं (प्राणायाम)। वे अपान में प्राण को और प्राण में अपान को रोकने का अभ्यास करते हैं और अन्त में प्राण-अपान को रोककर समाधि में रहते हैं। अन्य योगी कम भोजन करके

प्राण की प्राण में ही आहुति देते हैं।

तात्पर्य : श्वास को रोकने की योगविधि प्राणायाम कहलाती है। प्रारम्भ में हठयोग के विविध आसनों की सहायता से इसका अभ्यास किया जाता है। ये सारी विधियाँ इन्द्रियों को वश में करने तथा आत्म-साक्षात्कार की प्रगति के लिए संस्तुत की जाती हैं। इस विधि में शरीर के भीतर वायु को रोका जाता है जिससे वायु की गति की दिशा उलट सके। अपान वायु निम्नगामी (अधोमुखी) है और प्राणवायु ऊर्ध्वगामी है। प्राणायाम में योगी विपरीत दिशा में श्वास लेने का तब तक अभ्यास करता है जब तक दोनों वायु उदासीन होकर पूरक अर्थात् सम नहीं हो जातीं। जब अपान वायु को प्राणवायु में अर्पित कर दिया जाता है तो इसे रेचक कहते हैं। जब प्राण तथा अपान वायुओं को पूर्णतया रोक दिया जाता है तो इसे कुम्भक योग कहते हैं। कुम्भक योगाभ्यास द्वारा मनुष्य आत्म-सिद्धि के लिए जीवन अवधि बढ़ा सकता है। बुद्धिमान योगी एक ही जीवनकाल में सिद्धि प्राप्त करने का इच्छुक रहता है, वह दूसरे जीवन की प्रतीक्षा नहीं करता। कुम्भक योग के अभ्यास से योगी जीवन अवधि को अनेक वर्षों के लिए बढ़ा सकता है। किन्तु भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में स्थित रहने के कारण कृष्णभावनाभावित मनुष्य स्वतः इन्द्रियों का नियंता (जितेन्द्रिय) बन जाता है। उसकी इन्द्रियाँ कृष्ण की सेवा में तत्पर रहने के कारण अन्य किसी कार्य में प्रवृत्त होने का अवसर ही नहीं पातीं। फलतः जीवन के अन्त में उसे स्वतः भगवान् कृष्ण के दिव्य पद पर स्थानान्तरित कर दिया जाता है, अतः वह दीर्घजीवी बनने का प्रयत्न नहीं करता। वह तुरन्त मोक्ष पद को प्राप्त कर लेता है, जैसा कि *भगवद्गीता* में (१४.२६) कहा गया है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

"जो व्यक्ति भगवान् की निश्छल भक्ति में प्रवृत्त होता है वह प्रकृति के गुणों को लाँघ जाता है और तुरन्त आध्यात्मिक पद को प्राप्त होता है।" कृष्णभावनाभावित व्यक्ति दिव्य अवस्था से प्रारम्भ करता है और निरन्तर उसी चेतना में रहता है। अतः उसका पतन नहीं होता और अन्ततः वह भगवद्धाम को जाता है। कृष्ण प्रसादम् को ही खाते रहने से स्वतः कम खाने की आदत पड़ जाती है। इन्द्रियनिग्रह के मामले में कम भोजन करना (अल्पाहार) अत्यन्त लाभप्रद होता है और इन्द्रियनिग्रह के बिना भव-बन्धन से निकल पाना सम्भव नहीं है।

सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः।
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्॥ ३०॥

सर्वे—सभी; **अपि**—ऊपर से भिन्न होकर भी; **एते**—ये; **यज्ञ-विदः**—यज्ञ करने के प्रयोजन से परिचित; **यज्ञ-क्षपित**—यज्ञ करने के कारण शुद्ध हुआ; **कल्मषाः**—पापकर्मों से; **यज्ञ-शिष्ट**—ऐसे यज्ञ करने के फल का; **अमृत-भुजः**—ऐसा अमृत चखने वाले; **यान्ति**—जाते हैं; **ब्रह्म**—परम ब्रह्म; **सनातनम्**—नित्य आकाश को।

ये सभी यज्ञ करने वाले यज्ञों का अर्थ जानने के कारण पापकर्मों से मुक्त हो जाते

हैं और यज्ञों के फल रूपी अमृत को चखकर परम दिव्य आकाश की ओर बढ़ते जाते हैं।

तात्पर्य : विभिन्न प्रकार के यज्ञों (यथा द्रव्ययज्ञ, स्वाध्याय यज्ञ तथा योगयज्ञ) की उपर्युक्त व्याख्या से यह देखा जाता है कि इन सबका एक ही उद्देश्य है और वह है इन्द्रियों का निग्रह। इन्द्रियतृप्ति ही भौतिक अस्तित्व का मूल कारण है, अतः जब तक इन्द्रियतृप्ति से भिन्न धरातल पर स्थित न हुआ जाय तब तक सच्चिदानन्द के नित्य धरातल तक उठ पाना सम्भव नहीं है। यह धरातल नित्य आकाश या ब्रह्म आकाश में है। उपर्युक्त सारे यज्ञों से संसार के पापकर्मों से विमल हुआ जा सकता है। जीवन में इस प्रगति से मनुष्य न केवल सुखी और ऐश्वर्यवान बनता है, अपितु अन्त में वह निराकार ब्रह्म के साथ तादात्म्य के द्वारा या श्रीभगवान् कृष्ण की संगति प्राप्त करके भगवान् के शाश्वत धाम को प्राप्त करता है।

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥ ३१॥

न—कभी नहीं; **अयम्**—यह; **लोकः**—लोक; **अस्ति**—है; **अयज्ञस्य**—यज्ञ न करने वाले का; **कुतः**—कहाँ है; **अन्यः**—अन्य; **कुरु-सत्-तम**—हे कुरुश्रेष्ठ।

हे कुरुश्रेष्ठ! जब यज्ञ के बिना मनुष्य इस लोक में या इस जीवन में ही सुखपूर्वक नहीं रह सकता, तो फिर अगले जन्म में कैसे रह सकेगा?

तात्पर्य : मनुष्य इस लोक में चाहे जिस रूप में रहे वह अपने स्वरूप से अनभिज्ञ रहता है। दूसरे शब्दों में, भौतिक जगत् में हमारा अस्तित्व हमारे पापपूर्ण जीवन के बहुगुणित फलों के कारण है। अज्ञान ही पापपूर्ण जीवन का कारण है और पापपूर्ण जीवन ही इस भौतिक जगत् में अस्तित्व का कारण है। मनुष्य जीवन ही वह द्वार है जिससे होकर इस बन्धन से बाहर निकला जा सकता है। अतः वेद हमें धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष का मार्ग दिखलाकर बाहर निकलने का अवसर प्रदान करते हैं। धर्म या ऊपर संस्तुत अनेक प्रकार के यज्ञ हमारी आर्थिक समस्याओं को स्वतः हल कर देते हैं। जनसंख्या में वृद्धि होने पर भी यज्ञ सम्पन्न करने से हमें प्रचुर भोजन, प्रचुर दूध इत्यादि मिलता रहता है। जब शरीर की आवश्यकता पूर्ण होती रहती है, तो इन्द्रियों को तुष्ट करने की बारी आती है। अतः वेदों में नियमित इन्द्रियतृप्ति के लिए पवित्र विवाह का विधान है। इस प्रकार मनुष्य भौतिक बन्धन से क्रमशः छूटकर उच्चपद की ओर अग्रसर होता है और मुक्त जीवन की पूर्णता परमेश्वर का सान्निध्य प्राप्त करने में है। यह पूर्णता यज्ञ सम्पन्न करके प्राप्त की जाती है, जैसा कि पहले बताया जा चुका है। फिर भी यदि कोई व्यक्ति वेदों के अनुसार यज्ञ करने के लिए तत्पर नहीं होता, तो वह इस शरीर में सुखी जीवन की कैसे आशा कर सकता है? फिर दूसरे लोक में दूसरे शरीर से सुखी जीवन की आशा तो व्यर्थ ही है। विभिन्न स्वर्गों में भिन्न-भिन्न प्रकार की जीवन-सुविधाएँ हैं और जो लोग यज्ञ करने में लगे हैं उनके लिए तो सर्वत्र परम सुख मिलता है। किन्तु सर्वश्रेष्ठ सुख वह है जिसे मनुष्य कृष्णभावनामृत के अभ्यास द्वारा वैकुण्ठ जाकर प्राप्त करता

है। अतः कृष्णभावनाभावित जीवन ही इस भौतिक जगत् की समस्त समस्याओं का एकमात्र हल है।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥ ३२॥

एवम्–इस प्रकार; **बहु-विधाः**–विविध प्रकार के; **यज्ञाः**–यज्ञ; **वितताः**–फैले हुए हैं; **ब्रह्मणः**–वेदों के; **मुखे**–मुख में; **कर्म-जान्**–कर्म से उत्पन्न; **विद्धि**–जानो; **तान्**–उन; **सर्वान्**–सबको; **एवम्**–इस तरह; **ज्ञात्वा**–जानकर; **विमोक्ष्यसे**–मुक्त हो जाओगे।

ये विभिन्न प्रकार के यज्ञ वेदसम्मत हैं और ये सभी विभिन्न प्रकार के कर्मों से उत्पन्न हैं। इन्हें इस रूप में जानने पर तुम मुक्त हो जाओगे।

तात्पर्य : जैसा कि पहले बताया जा चुका है वेदों में कर्ताभेद के अनुसार विभिन्न प्रकार के यज्ञों का उल्लेख है। चूँकि लोग देहात्मबुद्धि में लीन हैं, अतः इन यज्ञों की व्यवस्था इस प्रकार की गई है कि मनुष्य उन्हें अपने शरीर, मन अथवा बुद्धि के अनुसार सम्पन्न कर सके। किन्तु देह से मुक्त होने के लिए ही इन सबका विधान है। इसी की पुष्टि यहाँ पर भगवान् ने अपने श्रीमुख से की है।

श्रेयान्द्रव्यमयाद् यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥ ३३॥

श्रेयान्–श्रेष्ठ; **द्रव्य-मयात्**–सम्पत्ति के; **यज्ञात्**–यज्ञ से; **ज्ञान-यज्ञः**–ज्ञानयज्ञ; **परन्तप**–हे शत्रुओं को दण्डित करने वाले; **सर्वम्**–सभी; **कर्म**–कर्म; **अखिलम्**–पूर्णतः; **पार्थ**–हे पृथापुत्र; **ज्ञाने**–ज्ञान में; **परिसमाप्यते**–समाप्त होते हैं।

हे परंतप! द्रव्ययज्ञ से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है। हे पार्थ! अन्ततोगत्वा सारे कर्मयज्ञों का अवसान दिव्य ज्ञान में होता है।

तात्पर्य : समस्त यज्ञों का यही एक प्रयोजन है कि जीव को पूर्णज्ञान प्राप्त हो जिससे वह भौतिक कष्टों से छुटकारा पाकर अन्त में परमेश्वर की दिव्य सेवा कर सके। तो भी इन सारे यज्ञों की विविध क्रियाओं में रहस्य भरा है और मनुष्य को यह रहस्य जान लेना चाहिए। कभी-कभी कर्ता की श्रद्धा के अनुसार यज्ञ विभिन्न रूप धारण कर लेते हैं। जब यज्ञकर्ता की श्रद्धा दिव्यज्ञान के स्तर तक पहुँच जाती है तो उसे ज्ञानरहित द्रव्ययज्ञ करने वाले से श्रेष्ठ माना जाता है क्योंकि ज्ञान के बिना यज्ञ भौतिक स्तर पर रह जाते हैं और इनसे कोई आध्यात्मिक लाभ नहीं हो पाता। यथार्थ ज्ञान का अंत कृष्णभावनामृत में होता है जो दिव्यज्ञान की सर्वोच्च अवस्था है। ज्ञान की उन्नति के बिना यज्ञ मात्र भौतिक कर्म बना रहता है। किन्तु जब उसे दिव्यज्ञान के स्तर तक पहुँचा दिया जाता है तो ऐसे सारे कर्म आध्यात्मिक स्तर प्राप्त कर लेते हैं। चेतनाभेद के अनुसार ऐसे यज्ञकर्म कभी-कभी कर्मकाण्ड कहलाते हैं और कभी ज्ञानकाण्ड। यज्ञ वही श्रेष्ठ है, जिसका अन्त ज्ञान में हो।